संपादकीय

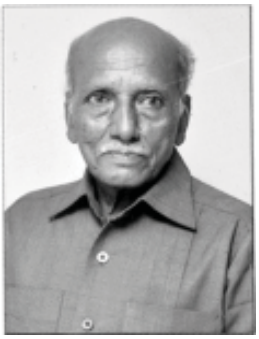

इतिहास संदेश को लेकर अनेक पत्र, फोन–सूचनायें और कभी कभी पाठकों से सीधी बातचीत होती है। इन सब का सार यह होता है कि, आप अमुक बातें क्यों छापते हैं और हमारी अपेक्षा के अनुरुप क्यों नहीं छापते हैं। हमारा नम्र निवेदन होता है कि विचार स्वतंत्रता संविधान प्रदत्त एक मूलाधिकार है और शायद पिछले किसी अंक में इस विचार स्वातंत्र्य की महत्ता और अनिवार्यता को प्रगट करने वाला एक प्रसंग का भी उल्लेख कर चुके हैं।

चूंकि इतिहास संदेश एक मिशनरी कार्य है और विचार परिवर्तन के राष्ट्रीय जन आंदोलन का एक सशक्त माध्यम है, यहाँ उस प्रसंग को दोहराना उचित समझते हैं–

एक बार डा. बाबासाहब अम्बेडकर से पूछा गया कि, आपको प्राप्त (अस्पृश्य वर्ग को) सारे अधिकार, शक्तियाँ और सुविधायें छीन ली जायें, वापस ले ली जायें और कहा जाये कि कोई एक बात, मात्र एक ही आपकी पसंद की बात छोड़कर तो आप क्या लेना चाहेंगे? डॉ. साहब ने बिना विलम्ब के तुरंत उत्तर दिया 'स्वतंत्रता,' विचारों को प्रगट करने की आजादी! अगर ये हमारे लोगों के पास रही तो शेष सारे अधिकार, सुविधायें हम दोबारा वापस ले सकेगे।

प्रिय पाठक गण, विचार स्वतंत्रता हमारा मौलिक अधिकार है लेकिन इसके प्रति पर्याप्त समझ और उपयोग करने की दृष्टि की कमी महसूस होती है। यह एक गम्भीर मुद्दा है। लेकिन यहाँ हम एक और विचारबिंदु पर विमर्श करना चाहते हैं कि क्या विचार स्वतंत्रता अमर्यादित हद तक होनी चाहिये!

इन ६७ सालों में तो यह अनुभव आया है कि, इस 'हथियार' का उपयोग सकारात्मक रुप से जिन ब्राह्मणवाद **पीड़ितों** के पक्ष में होना चाहिये था नहीं हुआ। सकारात्मक रुप से विचार स्वतंत्रता का प्रयोग का क्षेत्र 'विचारधारा' है। अम्बेडकरी फुले विचारधारा है। यह विचारधारा के मार्ग से चलकर ही इस देश में श्रमण संस्कृति की पुनरस्थापना सम्भव है।

इस देश में यह विचारस्वतंत्रता हजारों सालों तक बंदिश रही है। कुछ विद्वान इतिहासकारों के कथन में दम है कि ब्राह्मणों के द्वारा चलाये गये दमन के विरोध में अवश्य प्रतिरोध हुआ होगा। अछूत वर्ग ने आन्दोलन किया होगा परन्तु विचार स्वतंत्रता की अभिव्यक्ती नहीं थी और शिक्षा, ज्ञान, विद्या पर प्रतिबंध रहने से उन घटनाओं का इतिहास कभी उपलब्ध नहीं हो सका।

लेकिन जिन्हें स्वतंत्रता हर रुप में उपलब्ध थी वह वर्ग ब्राह्मण वर्ग था। आगे चलकर ब्राह्मण ने अपने एकाधिकार के समर्थन में क्षत्रिय (राजन्य वर्ग) और वैश्य (उत्पादन का स्वामि वर्ग) को भी कूटनीतिक तरीकों से अपने पक्ष मिलाकर समाज व्यवस्था की पूरी कमान स्वयं अपने हाथों में लेली– एक रिमोटकंट्रोल की तरह।

परिणाम यह हुआ कि दिक् और काल को ध्यान में रखकर इतिहास लेखन नहीं हुआ। इतिहास लेखन को **अध्यात्मिक** स्वरुप प्राप्त हो गया। और ले–दे के हमारे हाथ जो एक बड़ा ब्राह्मण साहित्य उपलब्ध हुआ वो पुराण

साहित्य है। इसमें से माथपच्ची करके गाथाओं, किवदंतियों, पुरा-कथाओं से जो लगभग काल्पनिक हैं, ऐतिहासिक तथ्यों और घटनाओं की खोजबीन करनी पड़ती है। परन्तु सच-झूठ याने विश्वसनीयता और वस्तुनिष्ठता को थोड़ा बाजू रखकर विचार करें तो ब्राह्मणी केंद्रित, संचालित और विकसित समाज व्यवस्था की दशा, प्रवृत्तियाँ, शूद्रों, अछूतों और स्त्रियों के प्रति उनके दृष्टिकोण, व्यवहार की सच्चाईयाँ एकदम सामने आती हैं जो कितनी भयानक हैं इसका अंदाज रामायण, महाभारत और अन्य पुराण साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है।

पहली बार सम्भवतः प्रतिक्रांति (ई.पू. २०० से ई.पू.२००) के ढ़ाई हजार सालों के बाद पश्चिम महाराष्ट्र से महात्मा ज्योतिबा फुले ने साहसपूर्ण ढंग से ब्राह्मण ग्रंथों का पोस्टमार्टम शुरु किया। उस समय ब्राह्मण शिकंजे से **'विचार स्वतंत्रता'** मुक्त नहीं हुई थी। फुले ने ब्राह्मणों के गढ़ में प्रवेश किया। याने धर्मशास्त्रों की (ब्राह्मणी दृष्टिकोण से) प्रतिबंधित मर्यादाओं का उल्लंघन किया था। १९ वी सदी के मध्य से प्रारम्भ यह परिवर्तन इतिहास के क्षेत्र में नींव का पत्थर बना। यह विचार स्वतंत्रता विद्रोह से उपजी थी। यह विद्रोह, नकार और अस्वीकार उन परिस्थितियां की देन थी जो पश्चिम की आधुनिक इतिहास दृष्टि की देन थी। यह एक अनहोनी घटना घटी थी। यह विचार स्वतंत्रता और लेखनी का सर्वोत्तम उपयोग बहुजनों, और दलन किये गये लोगों के पक्ष में था। इसके बाद डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने फुले के काम को आगे बढ़ाया और वैचारिक आंदोलन का रुप दिया। डॉ. अम्बेडकर की संपूर्ण इतिहास दृष्टि में बार-बार ब्राह्मणी साहित्य की चर्चा आती है। उनके ग्रंथों में जगह-जगह इसके प्रमाण हैं परंतु **संदर्भों** में है। प्रसंगों में नहीं है। बिना ब्राह्मणी साहित्य के संदर्भो के, उनके धर्मशास्त्रों की शव परीक्षा सम्भव नहीं थी। डॉ. बाबासाहब ने ऋग्वेद से प्रारम्भ कर संपूर्ण वैदिक साहित्य, धर्मसूत्र, स्मृतियों का अध्ययन किया और ब्राह्मणी ऐतिहासिक षड़यंत्रों, प्रदूषणों, व्याख्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया।

इतना सब होने के बावजूद डॉ. बाबासाहब के नाम आम जनता में जो छबी बनी उसकी पृष्ठभूमि में दो बिंदु ही सर्वाधिक चर्चा में आये-एक है भारत का संविधान और दूसरा धम्मचक्रप्रवर्तन। मूलनिवासी भारत बहुत विशाल है ८५% याने १०२ करोड़ लोगों के विचार परिवर्तन का मामला है। ये लोग बाबासाहब के वह साहित्य को जिसमें हर दूसरे-तीसरे पन्ने से इतिहास झांकता है, जो उनके आंदोलन का प्राण और मूलाधार है। वह आंदोलन का प्रस्थान इतिहास से है। और इतिहास को समझने, आत्मसात करने, आत्मबोध ग्रहण करने की एक अनिवार्य शर्त है कि हम इतिहास की पृष्ठभूमि में जायें। इतिहास के संदर्भों को समझे बिना आम आदमी **वर्तमान** को नहीं समझ सकता, सावधान नहीं हो सकता।

इसलिये इतिहास की पार्श्वभूमि में गहरे उतरने के लिये ब्राह्मणी साहित्य, यथा रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृतियाँ आदि का उपयोग साक्ष्यों के लिये, सबूतों के लिये, एक प्रमाणिक दस्तावेजों की तरह पेश करना पड़ता है। हमारा मूल उद्देश्य हिंदु धर्म की विसंगतियों को सामने लाना है। और बिना उदाहरणों के, क्या यह सम्भव है? और यह तमाम उद्धरण हम ब्राह्मणी साहित्य से प्राप्त करते है और फिर उसकी वस्तुनिष्ठ, तार्किक, और विवेकपूर्ण व्याख्या करते हैं ताकी इतिहास बोध हो। अतः मूलनिवासी भारत की हमारे आमजन को इतिहास षड़यंत्रों का पता चले ज्ञानात्मक स्तरपर और सिर्फ इतना ही पर्याप्त नहीं है परंतु इतिहास की समझ (Understanding) को अपने दैनंदिन आचरण (Skill) में परिवर्तित करे और अंत इतिहास के माध्यम से

वर्तमान के प्रति संपूर्ण दृष्टिकोण (Attitude) में परिवर्तन हो। इतिहासबोध की पकृति बुद्धिवादी और इतिहास के दर्शन पर आधारित हो, यह सावधानी हम बरतते हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार रोमीला थापर ने एक जगह कहा है कि इतिहास का पुनर्‌लेखन इतना बड़ा काम है कि लगभग १५० लेखक सामूहिक रुप से शोधपूर्ण लेखन करें तो भी यह काम पूरा होने में १०० साल लगेंगे। इस बात से थोड़ा अंदाज लग सकता है कि इतिहास संदेश याने इतिहास बोध का मामला कितना चुनौती भरा है। जबकि उपलब्ध इतिहास की किताबों में आम आदमी नहीं है। शूद्र, अछूत, आदीवासी तो सिरे से गायब है। और जो कुछ उपलब्ध है वह ब्राह्मणी नजरिये से ब्राह्मणें के हित में लिखा गया है।

भारत का मूलनिवासी इन पुराण कथाओं में जकड़ा हुआ था। पुराकथाओं को अतार्किक ढंग से ग्रहण करने का ही नतीजा था कि अनेक 'ऐतिहासिक पात्रों' पर चमत्कारों और कल्पनाओं का रंग चढ़ाकर उन्हें मठों, मंदिरों में बैठालकर पूजा करने लगे लेकिन उनकी सारगर्भित बातों को, उपदेशों को भूल गये। परिणाम यह हुआ कि, किवदंतियों, गाथाओं और कथाओं को खंगाल कर उनमें से इतिहास के तथ्यों को ढूंढ निकालने की बजाय आम आदमी का मानस अन्धविश्वासों और कल्पनाओं में और उलझ गया। जरुरत है धीरे-धीरे आम जनमत को तार्किक, विवेकशील बनाने की, उनकी सोच को वैज्ञानिक आधार देने की।

विज्ञान और टेक्नालाजी में निरंतर बढ़ रहा भारत सांस्कृतिक धरातल पर भी परिवर्तन लाये, यह २१वीं सदी के नये भारत की पहचान होगी।

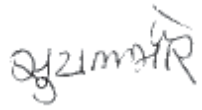

(सुंदरलाल टाकभौरे)

एक महत्त्वपूर्ण वार्ता : डॉ. मुल्कराज आनन्द

–नानक चन्द रत्तू

दो भद्र पुरुष मई १९५० को एक सुखद् सन्ध्या को बम्बई के एक परेड में एक बेंच पर जा बैठे और बातचीत का क्रम चल निकला। उनमें से एक भारतीय संविधान के निर्माता डॉ. भीमराव रामजी आम्बेडकर थे और दूसरे थे जाने–माने इतिहासकार और 'दि अनटचेबल (अछूत)' के लेखक मुल्कराज आनन्द बातचीत के अंश यहाँ प्रस्तुत है–

मु.रा.आ. : नमस्कार, डॉ. अम्बेडकर!

भी.रा.अ. : मैं बौद्ध–अभिवादन अधिक पसन्द करता हूँ– **ओम मणि पद्मये!** – कमल को खिलने दो।

मु.रा.अ. : मैं आपसे सहमत हूँ। हम भी कितने विचार–शून्य हैं। हम शब्दों के अर्थ की जाँच–परख भी नहीं करते और उन्हें अपना लेते हैं। यह सच है, नमस्कार का अर्थ होता है– मैं आपके आगे नमन करता हूँ...

भी.रा.अ. : इससे समर्पण को निरन्तरता मिलती है। कमलों को खिलने दो में बोध जगाने की प्रार्थना है।

मु.रा.अ. : वास्तव में, पुरानी आदतें सरलता से नहीं जातीं। हम बिना सोचे–विचारे ही उन्हें अपना लेते हैं...

भी.रा.अ. : प्रत्येक बात में

मु.रा.अ. : यह सोचिए व्यक्ति हिन्दू, मुसलमान या ईसाई या ठप्पा लेकर पैदा नहीं होता। हिन्दू माता–पिता अपने बच्चे को नामकरण संस्कार के समय नाम देते हैं। उसके पवित्रीकरण के लिए एक पुरोहित संस्कृत में श्लोक पढ़ता है, जिसे वह बच्चा नहीं समझ सकता। उसे एक पवित्र धागा पहना दिया जाता है और लीजिए वह लड़का हिन्दू हो जाता है।

भी.रा.अ. : क्या इडियोसी (मूर्खता) है?

मु.रा.अ. : अगर आपका आशय यूनानी शब्द '**इडियट**' अर्थात एक ही जगह चक्कर काटते रहने से है।

भी.रा.अ. : हमें सभी पुरानी आदतों, विचारों और प्रथाओं पर प्रश्न उठाने चाहिए। शिक्षा से नए युवाओं को उत्साहित होना चाहिए कि वे अध्यापक से प्रति दिन एक नया प्रश्न करें...

मु.रा.अ. : अध्यापक को सिखाने का सबसे अच्छा तरीका! बहुधा उन्हें वह पता ही नहीं होता जो पाठ्य–पुस्तक में नहीं होता। वास्तव में, अपनी परिपक्व युवावस्था में भी व्यक्ति प्रश्न करके ही विकास कर सकता है। यह मैंने हेनरी वर्गसन की किताब **क्रिएटिव इवोल्यूशन** से सीखा। हीगल, कांट और देकार्त को पढ़ने के बाद मुझे विभिन्न दार्शनिक समस्याओं को लेकर कठिनाई हो रही थी। बर्गसन का कहना था : मनुष्य अथवा, व्यक्ति के बारे में क्या विचार है? एक मनुष्य क्योंकि उस परिवार में पैदा होता है, जो मरे जानवरों का काम करता है, तो उसे अस्पृश्य (अछूत) घोषित कर दिया जाता है। हिन्दुओं के लिए जंगल में रहने वाले सभी लोग जंगली होते हैं...

मु.रा.अ. : अस्वीकृत।

भी.रा.अ. : बिल्कुल! जो व्यक्ति हाथ से काम करता है, उसे अस्वीकृत कर दिया जाता था, आज भी किया जाता है। जो लोग जानवरों की खाल उतारते हें, जो लोग गोबर ढोते हैं, जो लोग भूमि पर मजदूरी

करते हैं– ये सभी जिन पर सदा के लिए ठप्पा लगा दिया गया है और जिन्हें सदा के लिए बन्धुआ बना दिया गया है। पाँच हजार वर्ष बीत जाने के बाद स्थिति और भी बदतर है। एक अस्पृश्य व्यक्ति मन्दिर में नहीं जा सकता, भले ही वह वहाँ जाने से पहले नहा आया हो। वह गाँव के कुएँ से पानी नहीं ले सकतां उसे गाँव के बाहर के गन्दे पोखर से पानी लेना होता है। वह जमींदार की जमीन पर अपने पशु नहीं चरा सकता। वह इसलिए गन्दा होता है क्योंकि वह गन्दगी साफ करता है। सदा अपवित्र समझा जाता है वह। एक जानवर को तो छुआ जा सकता है, अस्पृश्य को नहीं...

मु.रा.अ. : संविधान सभा के सदस्य के रुप में क्या आप व्यक्ति के अधिकारों पर जोर देने में सफल हुए हैं? मैं देखता हूँ कि आपकी समिति मौलिक अधिकार अर्थात व्यक्ति को स्वतन्त्रता का अधिकार देती है। किन्तु हम देखते हैं कि आपने सम्पत्ति के अधिकार को भी एक मौलिक अधिकार के तौर पर स्वीकारा है... क्या सम्पत्ति का अधिकार उन लोगों को विशेष लाभ नहीं देता, जिन्हें धन–सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिली है? इस तरह सबसे निर्धन, अछूत लोग सदा हानि की स्थिति में रहेंगे।

भी.रा.अ. : हमारे संविधान में हमने एक धर्म–निरपेक्ष समाजवादी लोकतन्त्र का आदर्श रखा है... अगर भूमि जोतने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को **राज्य काश्तकारी अधिकारों** से मिल जाए, तो विशेषाधिकार की समानता को सुनिश्चित किया जा सकता है और शोषण को दूर रखा जा सकता है। अभी तक अस्पृश्यों और अनेक सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों के पास काश्तकारी (कृषि) के अधिकार नहीं है। ये सभी भूमिहीन–किसान मात्र मजदूर हैं।

मु.रा.अ. : तब तो काम के अधिकार को एक मौलिक अधिकार के रुप में मान्यता दी जानी चाहिए थी।

भी.रा.अ. : मैं प्रारुप समिति का केवल एक सदस्य था।

मु.रा.अ. : तो आप शेरों के सामने एक मेमना बन गए।

भी.रा.अ. : मैं बहुत मिमिया लिया। अब मैं दहाड़ रहा हूँ।

मु.रा.अ. : एक वकील की हैसियत से, आप जानते हैं कि जज लोग किस तरह सदा उच्च वर्ण के सवर्ण हिन्दुओं के पक्ष में निर्णय करेंगे?

भी.रा.अ. : निस्संदेह! हमारी पण्डितों की सरकार में मैं एकमात्र गैर–ब्राह्मण था। जवाहरलाल नेहरु ने सम्पत्ति रखने के लिए अधिकार को एक मौलिक अधिकार बनाने के विरुद्ध जम कर संघर्ष किया... किन्तु बाबू राजेन्द्र प्रसाद को लगा कि नेहरु भारत को रुस बनाना चाहते हैं। इसलिए सवर्ण हिन्दुओं ने केवल इस बात की गुंजाइश रखी कि निदेश–सिद्धान्तों के रुप में मनुष्य के अन्य अधिकारों के लिए... संसद में लड़ा जाए।

मु.रा.अ. : जिनका झुकाव सम्पत्ति वाले व्यक्तियों के पक्ष में रहेगा।

भी.रा.अ. : एक दिन समाजवादी बहुमत में आ सकते हैं और सुधार की माँग कर सकते हैं। कुछ भी हो, जाति बहिष्कृत लोगों (Outcastes) और आदिवासियों को अनुसूचित जाति घोषित कर दिया गया

हैं। उन्हें उनके उत्थान के लिए कुछ विशेषाधिकार दिए जाएँगे; जैसे–स्कूल–कॉलेजों में प्रवेश के लिए आरक्षण और छात्रवृत्तियाँ।

मुत्र.रा.अ. : सवर्ण हिन्दू तो आरक्षण से सदा चिढ़ते रहेगे।

भी.रा.अ. : हमें अपने आपको संगठित करना होगा। जिन्हें उत्तराधिकार से वंचित कर दिया गया है, उन्हें संघर्ष के लिए उठना होगा। सवर्ण हिन्दुओं से अधिक संख्या जाति बहिष्कृत लोगों की है। यदि हम उन मुसलमानों को भी सम्मिलित कर लें, जिन्हें जातिवादी अस्पृश्य ही मानते हैं और आदिवासियों को भी। समाजवादियों के साथ मिल कर वे निजी सम्पत्ति के स्वामित्व को समाप्त कर सकते हैं। न कोई जमींदार, न कोई किराएदार; न कोई भूमिहीन मजदूर।

मु.रा.अ. : 'राज्य पूँजीवाद' भी भयंकर सिद्ध हो सकता है। आप जानते हैं, स्टालिन ने रुस में क्या किया है? साम्यवाद के नाम पर जनता के ऊपर अफसरशाही को थोप दिया।

भी.रा.अ. : निस्संदेह, हमें दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों के अतिक्रमण से व्यक्ति की रक्षा करनी होगी। व्यक्ति की स्वतन्त्रता सदा हमारी चिन्ता का प्राथमिक विषय होना चाहिए। जब मैं मौलिक अधिकरों का आग्रह कर रहा था, तो मेरे मन में यही बात थी।

मु.रा.अ. : यदि आपके मन में यही बात थी, तो आप संसद से मौलिक अधिकारों में संशोधन का आग्रह कर सकते हैं। हमें राज्य–पूँजीवाद और निजी–पूँजीवाद दोनों से ही लड़ना होगा। आप जानते हैं कि जनता का एक बड़ा बहुसंख्यक वर्ग हर कहीं नियोक्ता (Employers) की इच्छा का शिकार है।

भी.रा.अ. : बिल्कुल, अभी तक तो स्वतन्त्रता किराया बढ़ाने की जमींदार की स्वतन्त्रता ही समझी जाती है। पूँजीवादी तो सदा मजदूरी कम करना और काम के घण्टे अधिक करना चाहता है। पूँजीवाद तो निजी–नियोक्ता की तानाशाही होती है।

मु.रा.अ. : यह शायद सन् १७८९ की फ्रांसीसी क्रान्ति जैसी किसी उथल–पुथल के बिना सम्भव न हो।

भी.रा.अ. : आपके मुँह से यह सुन कर विचित्र लगता हैं मैं तो सोचता था कि आप अपने उपन्यास में गाँधीजी को अस्पृश्यों का मुक्तिदाता बना कर आप अहिंसावादी हो गए हैं।

मु.रा.अ. : मैं महात्मा के आदर्श को नहीं जी सका। हमें हिटलर और मुसौलिनी का सामना करना पड़ा। मैं स्पेन चला गया और वहाँ इन्टरनेशनल ब्रिगेड में शामिल हो गया। यद्यपि मैं एक क्लिनिक में खून देख कर बेहोश हो गया और मुझे बाहर कर दिया गया... दूसरे विश्व युद्ध में आपको इस या उसके पक्ष में होना ही था। एक कवि ने फासीवाद के विरुद्ध लोकतन्त्रों की स्वतन्त्रता की तथाकथित लड़ाई को एक **बड़े झूठ** के विरुद्ध एक **आधे झूठ** की लड़ाई बताया था।

भी.रा.अ. : आपको पता है, यद्यपि महात्मा (गाँधीजी) पूरी तरह से हरिजनों के पक्ष में थे फिर भी उन्होंने भगतद् गीता में वर्णित वर्णाश्रम में अपने विश्वास को नहीं छोड़ा... उनहें **हरि** अर्थात सर्वोच्च ईश्वर के **जन** बता कर उन्होंने सोचा कि वह उनकी स्थिति ऊँची कर रहे हैं। वास्तव में, उन्हें तो उनकी निम्नतम स्थिति पर छोड़ दिया गया।

मु.रा.अ. : क्या इसलिए आपने बौद्ध धम्म को अपने धर्म के रुप में अपनाया है?

भी.रा.अ. : हो सकता है कि यही विचार प्रमुख रहा हो और फिर अनुसूचित जाति के नागरिक बने रह कर आप जाति बहिष्कृत की स्थिति स्वीकार कर लेते हैं। मैंने अनुभव किया है कि बुद्ध का धर्म (धम्म) जो हिन्दू ईश्वर, ब्रह्मा में विश्वास नहीं करता और यह आकांक्षा रखता है कि मानव जन, स्त्री और पुरुष हठधर्म से मुक्त रहें। अस्पष्ट मिथकों और पुराण कथाओं से भी! व्यक्ति ज्ञान की खोज कर सकता है। वह विष्णु के अवतार राजा राम जैसे हिन्दुाओं के जातिवादी नायकों को अस्वीकार कर सकता है और हिन्दुत्व के अनेक भावनात्मक मिथकों को भी।

मु.रा.अ. : वास्तव में, मुझे बुद्ध के संशय, ब्राह्मणों के अनुमानों के मुकाबले अधिक तर्कसंगत लगते हैं। बुद्ध विश्व के पहले अस्तित्ववादी थे। उन्होंने चिल्ला-चिल्ला कर कहा-दुख, दुख, दुख! हिन्दू सदा झूठी आशाओं के पक्ष में रहे। ईश्वर आनन्द है। उन भिखारियों के लिए एक सान्तवा पुरस्कार है, जो पुरोहितों के माध्यम से फूलों की भेंट चढ़ा कर और मालाओं और फूलों की घूस देकर सामन्ती ईश्वर की कृपा की याचना करते हैं।

भी.रा.अ. : बहिष्कृत लोगों (अछूतों) के लिए आपका क्या सन्देश है?

भी.रा.अ. : मैं अस्पृश्यों से कहना चाहता हूँ- शेर बनो। हिन्दू लोग काली की मूर्ति के आगे बकरियों की बलि देते थे। तुम अपने प्रकाश स्वयं बनो- **अत्त दीपो भव।**

मु.रा.अ. : जैसाकि बुद्ध ने आनन्द से कहा, **अपनी ज्योति स्वयं बनो...।**

''यदि बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने भारत की अनुसूचित जातियों के लिए अलग राजनीतिक अधिकार प्राप्त न किए होते और भारत के संविधान की प्रारुप समिति के अध्यक्ष के रुप में यदि उन्होंने केन्द्र और राज्य सरकारों में नौकरी और शिक्षा के क्षेत्र में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को विशेष रियायतें और सुविधाएँ देने का प्रावधान न किया होता, तो उनकी स्थिति पहले जैसी दुष्कर और दयनीय बनी रहती और अनुसूचित जातियों में इतने अधिक एम.डी.एल., एम.एल.सी., और मन्त्री नहीं मिलते, जितने आज दिखाई देते हैं और न ही सरकारी नौकरियों और समाज में ऊँचे पदों पर आसीन उच्च शिक्षा प्राप्त कोई अनुसूचित जाति का व्यक्ति होता। अनुसूचित जाति के लोगों ने सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में जो प्रगति और विकास किया है, उसका शत प्रतिशत श्रेय बाबा साहेब डॉ. बी.आर.अम्बेडकर को जाता है। इसलिए उन्हें इस महान् और श्रेष्ठ नेता का सदा आभार मानना चाहिए।''

-जोगेन्द्र नाथ मण्डल

विरासत में किसे क्या मिला?

क्षत्रिय को विरासत में क्या मिला?

-दिवाकर डांगे

ईश्वर के नामपर भारत में चातुर्वर्ण्य निर्माण करने वाले **ब्राह्मणों ने स्वयं के लिए १००% आरक्षण** प्राप्त कर लिया किन्तु अपने अनुज (क्षत्रिय) को विरासत में क्या दिया इसकी जानकारी लेते हैं।

चातुर्वर्ण्य की निर्मिती करने के बाद ब्राह्मणों ने शेष सम्पूर्ण वर्णपर प्रबलता निर्मिती का प्रयत्न शुरु किया। उनकी इस साजिश में इरानी राजा इंद्र का पूर्णतया सहयोग था। फिर भी मूल के भारतीय क्षत्रिय ब्राह्मणों की प्रबलता को स्वीकार करने कतई तैयार नहीं थे। क्योंकि वह योद्धा जाति थी इसलिए शुरु में ब्राह्मण और क्षत्रिय में भीषण संघर्ष हुआ।

वैदिक काल में क्षत्रिय ही राजा थे। उनके पुरोहित ब्राह्मण होते थे। अनेक अवसर पर पुरोहित राजा को सुझाव देते थे। वैश्य और शूद्राति शूद्र समान क्षत्रिय निःशस्त्र नहीं थे। राजा और उनके **सम्पूर्ण सैनिक क्षत्रिय** ही होते थे। इसलिए अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए छटपटाने वाला ब्राह्मण वर्ग क्षत्रिय से जरा बचकर ही बर्ताव करता था। इसलिए ब्राह्मण ने क्षत्रिय से मेलजोल बनाये रखा। इन दो वर्ण में निकटता स्थापित हुई। आखीर उनमें यौन सम्बन्ध भी निर्माण हुये। ब्राह्मण क्षत्रिय ने आपस में युती कर ली।

ब्राह्मण क्षत्रिय युती शासनकाल में कानून निर्माता, पुरोहित एवं मंत्री ब्राह्मण होते थे। तो क्षत्रिय राजा, सैनिक, न्यायाधीश एवं प्रबंधक होते थे। वैश्य व शूद्र को कोई भी महत्वपूर्ण ओहदा सौंपा नहीं जाता था। **उस वक्त भारत की सम्पूर्ण जनता का विभाजन ९% के खिलाफ ९१% किया गया था।** ब्राह्मण, क्षत्रिय ९% तो वैश्य एवं शुद्रातिशूद्र मिलकर ९१% इस तरह प्रमाण था। ९% ने ९१% पर शासन करने की प्रतिज्ञा करके रखी थी। ९१% लोग ब्राह्मण क्षत्रिय के खिलाफ सिर उठाने की जुर्रत ना कर सके इसलिए ब्राह्मणों ने ९१% को परे रखने के लिए स्मृति में कानून का इन्तजाम करके रखा है। इस कानून को अंमल लाने का काम राजा को सौंपा गया। राजा ने उन नियमों का पालन कठोरता से किया। इसलिए वैश्य और शूद्रातिशूद्रों की बेहद रहमोकरम के हालातों का सामना करना पड़ा। अतिशूद्र के साथ कुत्ते-बिल्लियों से भी बदत्तर बर्ताव किया जाता था। अतिशूद्र के संग कुत्तेबिल्लीयों से भी नीच व्यवहार किया जाने लगा। यह आचरण अब भी भारत में कई स्थानों पर मौजूद है। आज भी प्रतिभा के नाम पर शूद्रातीशूद्र के साथ उपहास किया जाता है।

स्मृति के कानून को अमल में लाने लिए राजाज्ञा

शूद्रातिशूद्र एवं वैश्य के उत्पीड़न के लिए जो कानून बनाये गये थे, उन पर सख्ती से अंमल किया जाता था। इसके लिए मनुस्मृति श्लोक ८-४१८ में मनुने राजा को दी हुई आज्ञा इस प्रकार है, ''राजा ने वैश्य एवं शुद्र को तय किये नुसार कार्य को पूरा करने के लिए उन्हें काम में जोतकर रखना चाहिये। ताकि वैश्य को दिया गया कारोबार, व्यवसाय और पशुपालन, एवं शूद्र को दिया गया सेवा का काम निरंतर करते रहना चाहिये। अगर उन्होंने अपना अपना काम छोड़ दिया तो दुनिया में असुविधा होगी।'' देखें श्लोक -

'वैश्योशूद्रो प्रयत्नेन स्वामी कर्मणि कारयेत्।
तौहिच्यूतौ स्वकर्मेभ्यः ज्ञोमयेतार्मिदजगत।।'

मनुस्मृति ८-४१८

वैश्य शूद्र ने अपने अपने काम छोड़ दिये तो सम्पूर्ण दुनिया में असुविधा होगी यह कहना महज झूठापन है। असुविधा होगी केवल ९% ब्राह्मण-बनिया की। इसलिए राजा की ओर से वैश्य व शूद्रातिशूद्र से

उनके कार्य सख्ती से करवाये जाते थे।

ब्राह्मण क्षत्रिय की एकता बरकरार रखने के लिए मनु का उपदेश :

ब्राह्मण क्षत्रिय के खिलाफ वैश्य और शूद्र विद्रोह ना कर सके इसलिए मनुस्मृति श्लोक ९-३२३ में ब्राह्मण क्षत्रिय को एकता का उपदेश करते हुये मनु कहते हैं की, ''ब्राह्मण विहिन क्षत्रिय कभी भी तरक्की नहीं कर सकता और ब्राह्मण भी क्षत्रिय के बगैर तरक्की नहीं कर सकते। ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर इस पृथ्वी लोक में और परलोक में परस्पर एक दूसरे की तरक्की करते है।'' देखे श्लोक ९-३२३

ये वही श्लोक हैं जो ब्राह्मणी शासन व्यवस्था की नींव है। इसी श्लोक ने ब्राह्मण शासन व्यवस्था का अभेद्य किला निर्माण किया था। जिसे भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने जबरदस्त प्रहार करने जर्जर करके रखा था। उस जर्जर किले को फिर से उसी श्लोक द्वारा मजबूत किया गया। यही श्लोक हजारों सालों से चली आ रही वर्ण एवं जाति व्यवस्था को कायम रखने का मूलमंत्र है।

परशुराम ब्राह्मण ने २१ मर्तबा क्षत्रिय पुरुष का पूरी तरह से विनाश किया था। विधवा हो चुकी स्त्रियों के साथ व्यभिचार करके परशुराम के ब्राह्मणी रिश्तेदारों ने उन्हें पुनः पुनः औलाद उत्पन्न करके दिये थे। **इतना घिनौना और मानभंग करनेवाला प्रकार खामोशी से क्षत्रिय राम ने भी सहन किया था। इसका प्रमुख कारण भी था ब्राह्मण के श्राप और ब्रह्महत्या के महापाप का भय।** ब्राह्मणों ने धूर्तता से निर्माण किये हुये इस प्रकार की अंधश्रद्धा से क्षत्रियता का तेज पूरीतरह से लुप्त हो गया था। इसलिए बुद्ध पश्चात् पुनर्स्थापन हुये वैदिक धर्म के काल में यह भारत देश ग्रीक, शक, कुशान, मुस्लिम की गुलामगिरी में गया था। दूसरा बाजीराव पेशवा द्वारा (वैदिक ब्राह्मण) किये हुये वसई के समझौते से (इ.स.१८०२) अंग्रेजों को भारतपर वर्चस्व स्थापन करने का अवसर प्राप्त हुआ था यह सभी इतिहास जानकार को ज्ञात है। यही समझौता विदेशी की गुलामगिरी कारण बना। मनु द्वारा लादी गई ब्राह्मण-क्षत्रिय युती को कायम करने का श्लोक क्र. ९-३२३ का उपदेश। ब्राह्मण से युती क्षत्रिय और सम्पूर्ण भारत को भुगतनी पड़ी।

परशुराम के निःक्षत्रियकरण व क्षत्राणी से व्यभिचार मोहिम पर एक नजर :

१) वैदिक ब्राह्मण धर्म के दशावतार किस्से में से विष्णु का तथाकथित छठवा अवतार ऋषी जमदाग्नी पुत्र परशुराम है। उसने २१ मर्तबा भारत से निःक्षत्रियकरण किया। **मारधाड, लड़ने का काम क्षत्रिय का था। फिर परशुराम ब्राह्मण ने शस्त्र धारण करके निःक्षत्रियकरण कैसे किया?** उसने चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था का उल्लंघन क्यों किया? यह भी वैदिक धर्म व्यवस्था का रहस्य है।

२) **परशुराम के निःक्षत्रियकरण की इस मोहिम में सम्पूर्ण क्षत्रिय पुरुषों का कत्ल किया जाता था। उनकी विधवा क्षत्राणियाँ अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए बीहड़ जंगलों में भाग जाती थी। भगते-भागते क्षत्राणी के पैर काटें चुभने से व पत्थर पर ठोकर लगने से खून से लथपथ होते थे। वह नीचे गिर जाती थी, फिर से उठकर भागती थी। पेट के बलपर गिरने से कई क्षत्राणी का गर्भपात भी होता था।**

परशुराम के सैनिक उन क्षत्राणी को कब्जे में लेकर कारागार में डालते थे। उन विधवाओं से उनकी मर्जी से अथवा जबरदस्ती से परशुराम के रिश्तेदार संभोग किया करते थे। कई क्षत्राणियाँ कारागार में ही शिशु को जन्म देती थी। **पुर्लिंग शिशु (उनके पति की औलाद) का फौरन कत्ल कर दिया जाता था।** इस घटना से उस माँ का कलेजा फट जाता था।

विधवा क्षत्राणी को ब्राह्मणों से ही औलाद उत्पन्न करवाई जाती थीः

उपरोक्त शीर्षक का समर्थन में वैदिक ब्राह्मण

धर्म का प्रमुख ग्रंथ महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४ का श्लोक ५ व ६ दे रहे है। देखे श्लोक-

''एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महात्मना।
उत्पतितान्यन्पान्यानि ब्रह्माणैर्वेदपारगै।।''

महाभारत आदिपर्व १०४-५

अर्थ : ''उस महात्मा परशुराम से इस प्रकार पृथ्वी को (भारत को) निःक्षत्रिय करने के पश्चात् ब्राह्मणोंने फिर क्षत्रिय औलाद को जन्म दिया।'' १०४-५

परशुराम ने भारत के सम्पूर्ण क्षत्रिय पुरुष का कत्ल करने के बाद वेदज्ञाता ब्राह्मण ने उन विधवाओं को फिर से औलाद उत्पन्न करके दी थी। उपरोक्त श्लोक १०४-५ इस बात का स्पष्ट कबूलनामा ही है। इस से वेद में यही ज्ञान है की, पुरुष का कत्ल करना और उनकी विधवा से व्यभिचार करके फिर से संतान उत्पन्न करना। **इसलिए बुद्ध कहते थे ''वेद, बंजर रेगिस्तान है।''** किन्तु ब्राह्मण से उत्पन्न औलाद ब्राह्मण ही होगी क्षत्रिय नहीं। फिर यह धोखाधडी क्यों? देखें श्लोक-

''पाणीग्राह्यस्यतन्य इति वेदेषु निश्चितम्।
धर्म्ममनासि संस्थाप्य ब्राह्मणास्तः समभ्ययु।।''

महाभारत आदिपर्व १०४-६

अर्थ : ''वेद में यह निश्चित है की, जो मनुष्य पाणीग्रहन करता है उसके क्षेत्र में उत्पन्न संतान उनकी ही होती थी। विधवा क्षत्राणी ने इस धर्म को मन में धारण करके ब्राह्मण से समागम किया।'' १०४-६

स्त्री-पुरुष के पाणीग्रहण से पतीपत्नी का रिश्ता निर्माण होता है व उनसे जन्मी हुई संतान औरस संतान होती है। **फिर विधवा क्षत्राणी ने पाणीग्रहन का धर्म मन में धारण किया ऐसा कहने की जरुरत ही क्या है? जान और पवित्रता बचाने के लिए पलायन करनेवाली विधवाओं को जबरदस्ती से कारागार में बंदी क्यों बनाया जाता था?**

उनपर बलात्कार करने के लिए ही? खैर, यह घटना एक ही मर्तबा नहीं हुई है बल्कि इक्कीस मर्तबा हुई है। **इस बात पर भी ध्यान देना जरुरी है। ब्राह्मण को विधवा ही पसंद थी, कुमारीका पसंद नहीं थी?** इसलिए परशुराम ने क्षत्रियों का बार-बार कत्ल किया, क्या ऐसा अनुमान लगाये? मनुस्मृति श्लोक ८-३५९ में ब्राह्मण को किसी भी वर्ण के स्त्री से मैथुन करने की पुरी रियायत थी। ब्राह्मण द्वारा किये जा रहे यज्ञ में यदि यज्ञ मण्डप में मौजूद स्त्रीसे गलती से नजरें मिल गई तो वह ब्राह्मण (ऋषि) उस स्त्री से प्रत्यक्ष सबके समक्ष यज्ञ मण्डप में ही मैथुन करता था, ऐसा जिक्र ऋग्वेद में मौजूद है। इसलिए तथागत बुद्ध कहते है की, ''वेद में मनुष्य की नैतिकता के उत्थान के लिए कुछ भी नहीं बताया गया।''

अब हम ब्राह्मणों द्वारा सम्पूर्ण जनता को झांसा देने के लिए किये गये उपाय संक्षेप में देखते है :

१. ब्राह्मण ने वैदिक धर्मग्रंथ में काल्पनिक ईश्वर की निर्मिती करके रखी और उसे विश्व का निर्माता कहा।

२. वेद ईश्वर निर्मित है कहने से जनता ने उसपर विश्वास किया।

३. वह विज्ञान युग ना होने के कारण समझ से परे व चमत्कारिक दिखने वाली बातों को ईश्वर निर्मित माना। चातुर्वर्ण्य ब्राह्मण ने स्वयं के लिए ही निर्माण किया। किन्तु उसका निर्माता ईश्वर को बनाया।

४. **चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ईश्वर की निर्मिती यदि होती तो इसका अस्तित्व सम्पूर्ण दुनिया में होता।** किन्तु अन्य देशों में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मौजूद नहीं थी और आज भी नहीं है।

५. भारत की हजारों देवी देवता अन्य देश में मौजूद नहीं है। केवल भारत में ही सम्पूर्ण देवी देवता क्यों अस्तित्व में आये? इसका उत्तर प्राप्त होता है की यह पुण्यवान देश है इसलिए। जहाँ भ्रष्टाचार व व्यभिचार का बोलबाला हो वह देश पुण्यवान हो सकता है क्या?

६. वेदादी ग्रंथ में ईश्वर परमात्मा को विश्वनिर्माता कहा तो मनुस्मृति श्लोक ९-३१४, ३१५ व ३१६ में सम्पूर्ण निर्माता ब्राह्मण को कहा गया है यह दोमुँहा कथन क्यों?

क्या वैश्य को विरासत में अधिकार का परिपूर्ण हिस्सा प्राप्त हुआ?

वैश्य यह चातुर्वर्ण्य का तीसरे क्रमांक का पुत्र है। मनुस्मृति श्लोक १०-८० में निर्धारित किये गये कार्य प्रत्येक वर्ण ने सख्ती से करने की ताकीद दी गई है। वह इस प्रकार ''अपना कर्म करते हुये ब्राह्मण के लिए वेदाभ्यास, यज्ञ, अध्ययन व अध्यापन, क्षत्रिय का कार्य प्रजापालन अर्थात सैन्य में भरती होकर वक्त आने पर युद्ध करना और वैश्य का कार्य व्यापार एवं पशुपालन। यह तीनों वर्ण के लिए अत्याज्य कर्म है। अगर कर्म को त्यागे गये तो ब्राह्मण, ब्राह्मण वर्ण में नहीं रह सकता।'' देखें श्लोक -

''वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य च रक्षणम्।
वार्ताकमैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मस्यु।।''

मनुस्मृति १०-८०

वैश्य और शूद्र को नीच निर्धारित करने वाले वैदिक धर्मग्रंथ में कई मिसालें मौजूद :

वैश्य और शूद्र को नीच करार देनेवाले अनेक मिसालें वैदिक धर्मग्रंथ से प्राप्त होती है। ब्रह्मा प्रजापतीकी कमर के ऊपर के भाग से ब्राह्मण व क्षत्रिय का जन्म निर्धारित करने से उन्हें उच्च पायदान पर बिठाया गया, वैश्य और शूद्रातीशूद्र का जन्म कमर के नीचले हिस्से से (जांघ व पैर) निर्धारित करने से उन्हें कहा गया। मुँह, भुजा, जांघ व पैर ये चारों अंग प्रजापतीके ही थे। फिर जांघ व पैर नीचले हिस्से के अवयव होने से ब्रह्मा प्रजापती नीच नहीं होगा क्या? जन्म देने का नैसर्गिक मार्ग एक होने से वह मार्ग मुँह, बाहु, जांघ व पैर से कैसे व कब निर्माण हुआ? उसके बाद उसका क्या हुआ? यह चातुर्वर्ण्य जन्म की निर्मित कथा ब्राह्मण-क्षत्रिय को उच्च निर्धारित करने के लिए गढ़ी गई। देखे श्लोक-

''उर्ध्वनाभेर्यानी खानि नाभिमेध्यामि सर्वशः।
यान्यधस्तान्मेध्यानी देहाचैव मलाश्चुता।।''

मनुस्मृति ५-१३२

अर्थ : ''जो अंग नाभीके ऊपर है, वे सर्व पवित्र है, और जो अंग नाभीके नीचे है वे और बदने से निकला हुआ मल (मलमूत्र) अपवित्र है।''

वैश्य और शूद्र बांधव के समझ में आ ही गया होगा की, मनुस्मृति ने ९१% शूद्र और वैश्य को मलमूत्र की उपमा देकर उन्हें अत्यंत नीच दर्जा दिया है। चार वर्ण की उत्पत्ती जर ब्रह्माने की है यदि यह माना भी जाये तो, उसने स्वयं के सम्पूर्ण पुरजे शुद्ध क्यों नहीं लगवाये? मलमूत्र त्यागने के लिए लिंग व गुदद्वार वाला ब्रह्मा सृष्टी का निर्माता ना होकर, यह सब कुछ ब्राह्मण की कल्पना से निर्माण किया। इसकी गवाही मनुस्मृति का श्लोक ९-१३५ देता है।

कृष्ण ने स्त्री, वैश्य व शूद्र को पापयोनी कहा : वैदिक आर्यधर्मग्रंथ में वैश्य व शूद्र को, ब्राह्मण-क्षत्रिय की युती होने के कारण वैश्यशूद्र युतीदर्शक शब्द का इस्तेमाल किया है। किन्तु प्रत्यक्ष में उनकी युती नहीं थी। बल्कि उनका जन्म कमरे के निचले हिस्से से होने के कारण दोनों वर्ण नीच है यह समझ में आये यही धर्मग्रंथ का प्रयोजन है। इसके समर्थन में भगवत् गीता श्लोक ९-३२ में क्या कहा है यह देखते है। श्लोक-

''यां हि पार्थ! व्यापाश्चित्य येऽपिस्यु पाप योनयः।
स्त्रीयो वैश्या स्तथा शूद्रास्तेऽ पियान्ति परां गतिमा।।''

- गीता ९-३२

अर्थ : ''हे पार्थ! (अर्जुन)! मेरी शरण में आकर स्त्री, वैश्य व शूद्र जिनकी उत्पत्ति पाप से हुई है वे परमगती को प्राप्त होते है।''

कृष्ण की दृष्टि से स्त्री, वैश्य व शूद्र का जन्म

पाप से हुआ है। पाश्चात्य महाविद्वान एनीबेजंट ने 'पापयोनयः' इस शब्द का अंग्रेजी अनुवाद 'of the womb of sin' अर्थात पाप के गर्भ से किया है। **जिस कृष्ण को भारत की विशाल संख्या (९१%+४.५%=९५.५%) सम्मान के साथ उच्च स्थान देती है, उसी जनसंख्या को कृष्ण ने पापयोनी कहा है इसमें कृष्ण की महानता दिखाई देती है।** किन्तु प्रत्यक्ष जन्मदात्री देवकी को भी पापयोनी कहा, इसलिए पापयोनी की कोख से जन्म लेने वाले कृष्ण स्वयं पापयोनी होते है क्या?

पांडू के आग्रह से कुंतीने नियोगद्वारा पुत्र प्राप्त कियेः

भरत वंशीय पांडू राजा संतती उत्पन्न ना कर सके इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी कुंती को नियोगद्वारा (परपुरुष से) संतती उत्पन्न करने का अनुरोध करने से कुंतीने धर्मराज से युधिष्ठिर, इंद्रसे अर्जून और वायू से भीम इन तीन पुत्रों को उत्पन्न कर लिया। नियोग पद्धति से ही पांडू की दूसरी पत्नी माद्रीने भी अश्विनीकुमार से नकुल व सहदेव इन दो पुत्रों को उत्पन्न कर लिया यही वे पाँच पांडव।

उपरोक्त पाँच पांडव की उत्पत्ति कौनसी योनी से है? किन्तु कृष्ण गीता श्लोक ९-३३ में ब्राह्मण व क्षत्रिय को पुण्य योनी कहते है। **केवल ईश्वरपर अंधश्रद्धा होने के कारण वैश्य, शूद्र व स्त्रियाँ (९५.५%) स्वयं को पापयोनी समझने को तैयार है** तो मैं क्या कर सकता हूँ? वह उनका सवाल है?

'विष्णुरहस्य' में वैश्यों को नीच कहा हैः

वैश्यों को नीच कहने का उदाहरण विष्णुरहस्य इस ग्रंथ में भी मौजूद है। इसमें वैश्य को ओछा कर्म अर्थात नीच कर्म करनेवाला कहा गया है। श्लोक-

''जघन्यकर्म्मा वैश्यः स्यात सेवा कर्म्मा तु यादृज।''

अर्थ : ''वैश्य नीच कर्म करनेवाला और शूद्र सेवा कर्म करनेवाला है।''

वैश्य का धन बलपूर्वक छिना जाता थाः

इस विधान के समर्थन में शूद्र का धन ब्राह्मण बलपूर्वक अथवा चुराकर छीनने का प्रबन्ध मनुस्मृति श्लोक क्र. ११-१२ में करके रखा है। देखे श्लोक-

''या वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हिम ऋतु रसोमपः।
कुटुम्बातस्य तद्रव्यम्याहरेद्यज्ञसिद्धये।।''

मनुस्मृति ११-१२

अर्थ : ''जिस वैश्य के पास बहुत सारे पशु हैं और यदि वे यज्ञ करवाते नहीं है, वैसे ही वह सोमरस पीनेवाला हो तो उसका धन घर से विशेषतः ब्राह्मण का यज्ञ पूर्ण करने के लिए छीनकर लाया जाये।''

वैश्यों को द्विजा का दर्जा चातुर्वर्ण्य में दिया गया था। फिर भी उनका शोषण किया जाता था। **काल्पनिक ईश्वर का अस्तित्व और उन्होंने बनाया हुया कानून (मनुके) अंधविश्वास के साथ मान्य करने के बावजूद भी वैश्य व शूद्र को वैदिक ब्राह्मणों ने बर्बाद कर डाला यह ध्यान में आता है।** ''वारे मनु तेरी माया। बड़ों को बढ़ाया और छोटों को लुढकाया।''

छोटेसे शूद्र को प्रेम के एवज़ में विरासत में मिले बदहाल :

वैदिक आर्यधर्म के चातुर्वर्ण्य निर्मिती से जन्मे हुये सबसे छोटे एवं चौथे क्रमांक का पुत्र अर्थात शूद्र है। इनमें एस.सी., एस.टी., ओ.बी.सी., एन.टी.व्ही.जे. और अल्पसंख्यांक शामिल है। जिनकी कुल जनसंख्या ८५% से भी ज्यादा है।

कई परिवार में सबसे अंतिम औलाद लाडली होती है। उससे परिवार सभी सदस्य बेहद प्यार करते है। उसे कुछ भी तकलीफ ना हो इसका खयाल रखा जाता है, क्योंकि उसके प्रसन्न रहने से सबको खुशी ही मिलती है। यह सब का अनुभव है।

किन्तु चातुर्वर्ण्य शूद्र इस सबसे छोटे के बाबत मात्र उल्टा इन्तजाम किया गया। उसके हिस्से बेहद निंदा, लज्जास्पद, घृणायुक्त और निर्दयतापूर्ण बर्ताव आया। इसे ब्राह्मण-क्षत्रिय ने बेबस, बेवारस, हीनदीन और भिकारी बनाके रखा। चातुर्वर्ण्य परिवार में उच्च

वर्णिय का हृदय पत्थर का और कसाई का था। गाय को काटने के लिए जिसतरह जगह जगह पर कसाई खाने का जिक्र ऋग्वेद में मौजूद है। **उसी प्रकार शूद्र के लिए उच्चवर्णीय कसाई ही थे।** हमारे पूरखों की वह भयानक नरकयातना याद करके कलेजा फटता है, आँखों से नीर बहने लगता है और एक अलग ही भावना निर्माण होती है, क्योंकि हम उन अन्यायग्रस्त पूरखों के वंशज है।

शूद्र और कुत्ते में कुछ भी अंतर नहीः

चातुर्वर्ण्य के दायरे में मनुके कानून अनुसार शूद्र को कुत्तेबिल्ली से भी नीच बर्ताव किया जाता था। इसके उदाहरण कुछ इस तरह-

१) कृष्ण ने स्त्री, वैश्य और शूद्र को पापयोनी कहा है, वे केवल इसलिए ताकि यह तीनों वर्ण कृष्ण की भक्ती करे सके। यही मुख्य उद्देश्य था।

२) महाभारत शांतीपर्व श्लोक ६०-२८ में और मनुस्मृति श्लोक १/८१ में शूद्र के कार्य का वर्णन करते हुये कहा है की, ''प्रजापतीने (ब्राह्माने) शूद्र को तीन वर्ण की सेवा करने के लिए ही निर्माण किया है।'' (धन्य वह बाप!)

३) **आपस्तम्ब स्मृति** श्लोक ९-३४ में शूद्र और श्वान में कुछ भी फर्क नहीं है। ऐसा कहते हुये कहते है की, ''ब्राह्मण सर्वसदाकाल शूद्र के वर्तनपर ध्यान दे की, वह क्या कर रहा है। शूद्र को भोजन जमीन पर परोसे, जिस तरह कुत्ता होता है, उसी तरह शूद्र भी है। अर्थात शूद्र और कुत्ते में कुछ भी अंतर नहीं है।'' देखें श्लोक-

''ब्राह्मणस्य सदाकालं शूद्र प्रक्षणं कारिणी!
शूमादन्न प्रवातव्यं यथैव श्वांतथैव स।।''

आपतम्य स्मृति ९/३४

शूद्र का गुजारा जूठे अन्नपरः

मनु के कानून अनुसार शूद्र का गुजारा किस तरह हो यह कहते हुये श्लोक १०-१२५ में मनुस्मृति कहती है की, ''शूद्र को खाने के लिए जूठा अन्न दिया जाये। बदनपर पहनने के लिए पुराने वस्त्र दिये जाय। खाने के लिए निकृष्ट दर्जे का अनाज दे और बिस्तर व ओढ़ने के लिए चादर फटी हुई दे।'' श्लोक देखे-

''उच्छिष्टमन्मदातव्यं जीर्णानी वासनामिच।
पुलकाश्चैव धन्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदा।।''

मनुस्मृति १०-१२५

(*इस प्रकार का कानून बनाने वाला मन, हृदय व इन्सानियत विहीन ही हो सकता है।)

शूद्र को असंस्कारीत रखने का मनुका कानूनः

शूद्र को संस्कारित करने की इच्छा रखनेवाले मनुस्मृति श्लोक १२/८४ नरक का खौफ दिखाते हुये कहता है की, ''जो व्यक्ती किसी भी शूद्र को धर्म का उपदेश देता होगा और वह व्यक्ती उसे किसी भी व्रत व नियम का पालन करने को कहता होगा, वह व्यक्ती शूद्र से असवृत्त नामक नरक में जाकर बसेगा।'' देखे श्लोक-

''याह्यरश्च धर्म माचष्टे यश्यैनादिशतिव्रतम्।
सोऽसवृत्त नाम तमः सहते नैन मज्जाति।।''

मनुस्मृति १२-८४

नरकलोक यह पर्शिया देश का जलमय भाग में निर्माण हुआ था, (इसका वर्णन हम इतिहास संदेश, वर्ष २, अंक ३, पृष्ठ क्र.३७ से ३९ में सबूतों के साथ कर चुके है।) मनुस्मृति के काल में नरकलोक बहुत दूर व आसमान में दर्शाया गया व वहाँ के हालात बेहद भयंकर होने की बात लोगों के ज़हन में जकड़कर बिठायी गयी। मनुस्मृति के पहले कुछ सहृदय ब्राह्मण ने शूद्र को भी संस्कारित करने का प्रयास किया होगा इसलिए निर्दयी मनुने उन सहृदयी लोगों को अप्रवृत्त नरक का भय दिखाया गया।

काबिल शूद्र को भी ऊँचे दर्जे का काम ना दे :

इस आशय का आदेश मनुस्मृति श्लोक ८-२० में मनुने देते हुये कहा की, ''ब्राह्मण काबिल ना भी हो

तो भी वही धर्मोपदेश कर सकता है अर्थात न्यायाधीश बन सकता है। शूद्र काबिल हो फिर भी उसे न्यायाधीश बनने का अधिकार नहीं है।'' देखे श्लोक –

''जातिमायोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता बृपतेनं तु शूद्रः कंथचव।।''

मनुस्मृति ८–२०

सन १९४७ में भारत की राज्यघटना लिखने के शुरुआत में मनुजी अगर जिंदा होते तो घटना लिखने का कार्य डॉ. भीमराव अम्बेडकर के बजाय मनुजी की ओर ही होता, और मनुस्मृति का कानून भारतीय संविधान में मनूने लिखा होता। जिसमें काबिलियत का नामोनिशान नहीं ऐसे ब्राह्मण को न्यायाधीश बनाया अथवा घटनाकार बनाया गया तो वह कौनसा न्याय करेगा या कौनसा कानून अमल में लायेगा यह रामद्वारा ताडका, वाली, रावण व शम्बूक का कत्ल से ही स्पष्ट होता है। भारतीय घटना से मनु का कानून रद्द किया गया यह ऊपर ऊपर से दिखाई दे भी रहा है फिर भी मनुस्मति व मनुको माननेवाले लोग अस्तित्व में है और मनुस्मृति ही अस्तित्व में है यह ध्यान में लिया जाय।

मनु की राय में जहाँ शूद्र न्यायाधीश हो उस राज्यपर संकट डूब जाता हैः

उपरोक्त विधान के समर्थन में मनुस्मृति श्लोक ८–२१ में मनु ने कहा की, ''जिस राज्य में शूद्र न्यायाधीश होता है, उस राजाका राज्यपर संकट आता है और वह इस कदर दुःखी होता है की, जिस तरह किचड में फंसी हुई गाय।'' देखे श्लोक –

''यस्य शूद्रस्तु कुरुते राजो धर्मविवेचनम्म।
तस्य सीदति तद् राष्ट्रं पंके गौरिव पश्चतः।''

मनु. ८–२१

इससे मनुस्मृति के पहले मूलनिवासी भारतीय राजा यहाँ के शूद्र विद्वान को न्यायाधीश का उच्च पद दिया जाता होगा ऐसा कह सकते है। इसका अर्थ हुआ की इराणी आर्य ब्राह्मण से शूद्र गिने जाने वाले लोग उस वक्त विद्वान, शीलवान व निर्व्यसनी होने चाहिये। (जैसे–हमारे पूरखे लवणासूर, हिरण्यकश्यपू आदी) इसलिए वह पद ब्राह्मण–क्षत्रिय को ही मिलने का प्रबंध करने के लिए मनुने भययुक्त कानून का निर्माण किया ऐसा कहना चाहिये।

स्वयं का धर्म गुणहीन हो तब भी उसे ना छोडेः

यह विधान कृष्ण ने गीता श्लोक ३–३५ में किया है। इसके समर्थन में कृष्ण कहते है की, ''हमारा धर्म गुणहीन हो फिर भी उसे अच्छा समझा जाये। किन्तु दूसरों का धर्म बेहतर हो तब भी उस अच्छा नही। हमारे धर्म का पालन करते हुये मर जाना श्रेष्ठ है। क्योंकी, दुसरों का धर्म संकट से सना हुआ है।''

''श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधम्मांत स्वनुष्ठितात।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मात भयावहः।।''

गीता ३–३५

शूद्र ने अपने कर्म पर ही ध्यान देना चाहिये इसलिए परधर्म को (दुसरों के कर्म को) डरावना कहा क्या ऐसा कहा जा सकता है? यह सत्य नहीं लगता।

शूद्र का धन चुराकर अथवा छिनकर लिया जायः

वैश्य व शूद्रोंने बेहद शर्मनाक व असहाय जिन्दगी गुजारनी चाहिये इसलिए मनुस्मृति समान ग्रंथ में कानून के द्वारा सम्पूर्ण व्यवस्था की गई थी। उनका धन चोरी करके अथवा छिनकर लिया जाता था। मनुस्मृति श्लोक ११–१३ में यह व्यवस्था कि गई है।

मनुस्मृति श्लोक १०/१२९ व ८/४१७ में मनु ने कहा की, ''बलवान होकर शूद्र ने धनसंचन नहीं करना चाहिये, क्योंकि शूद्र के पास धन होगा तो वे ब्राह्मण का नुकसान करेंगे। १०/१२९'' ''ब्राह्मण के लिए यही उचित है कि वे शूद्र का धन बगैर हिचकिचाहट के छिन ले। क्योंकि शूद्र का कुछ भी नहीं होता है। उनका धन मालिकद्वारा हाथियाना ही उचित है।'' (मनुस्मृति श्लोक ८–४१७)

उपरोक्त श्लोक के विपरित मनुस्मृति श्लोक ११–२४ में मनु आज्ञा देते हुये कहते है की, ''ब्राह्मण ने यज्ञ के लिए कभी भी शूद्र से भिक्षा नहीं मांगनी चाहिये। क्योंकि यदि शूद्र से धन की भिक्षा मांगकर

यज्ञ करने से ब्राह्मण मरणोपरान्त चाण्डाल योनी में जनम लेता है।''

ब्राह्मण ने शूद्र का धन चुराकर अथवा छिन लेने की व्यवस्था होने के बावजूद फिर से कहना की, शूद्र से धन की भिक्षा ना मांगी जाये। क्योंकि मांगना न्यूनता का और चूराना व छिनना महानता का लक्षण होता होगा। यह कहना उच्चवर्णिय की प्रतिभा और श्रेष्ठता!

शूद्र को कठोर दण्ड व सजा का प्रबन्ध :

वैदिक आर्य धर्मग्रंथ में छोटी छोटीसी बातों में भी शूद्र को कठोर शिक्षा का प्रबन्ध करके रखा है। शीवपुराण वायूसंहिता, मण्डल २, श्लोक ७ में कहा है की, ''शिल्पकार, कारागीर, वैद्य, सोनार, राजा का पिट्ठू, नौकर और मक्कार यह नरक में जाने के लिए उचित है, क्योंकि वे शूद्र व अस्पृश्य है।''

शूद्र व चाण्डाल यह शब्द तथागत बुद्ध के काल में भी प्रचलित थे। बुद्ध ने चाण्डाल व अस्पृश्य लोगों को स्वयं बौद्ध धम्म की दीक्षा दी थी। इससे शूद्र वर्ण से लोगों से घर के बाहर मरे हुये जानवर ढोना, व उच्चवर्णिय का मल फेकना आदी घृणायुक्त काम करवाए जाते थे उन्हें अस्पृश्य व चाण्डाल कहा जाता होगा व उनसे अस्पृश्यता का व्यवहार किया जाता होगा।

शूद्र के अल्प प्रतिकार से अवयव काटने की सजा शूद्र पर किसी ने भी और शूद्र के अलावा अन्य किसी ने भी अत्याचार किया तो भी उसने प्रतिकार नहीं करना चाहिये। उनसे जिस अंग से प्रतिकार किया गया, वह अंग काटने की मनु की आज्ञा थी। श्लोक ८-२७९ में मनु ने कहा की, ''शूद्र हाथ, पैर आदी अंग से श्रेष्ठ जाति की व्यक्ति पर वार करेगा तो राजाने उसका वही अंग काटना चाहिये।'' श्लोक-

''येनकेन चिवडेन.....शासनम्।।''

मनुस्मृति ८-२७९

आगे श्लोक ८/२८० में मनु आज्ञा देते है की, ''शूद्र ने अगर श्रेष्ठ जाति के व्यक्ति को मारने के लिए हाथ अथवा लाठी उठाई, तो राजाने उसका हाथ काटना चाहिये, शूद्र ने अगर क्रोध से उच्च जाति को पैर से मार दिया तो शूद्र का पैर काटना चाहिये, यह मनुकी आज्ञा है।'' देखें श्लोक-

''पाणिमुद्यम्य.....यादेच्छेदनमर्हति।।''

मनुस्मृति ८-२८०

''ब्राह्मण के साथ आसन पर बैठने से शूद्र का कूल्हा काटना चाहिये। इस कानून के अंमल का प्रबन्ध मनुने श्लोक ८-२८१ में किया है। वह कहते है, शूद्र अगर ब्राह्मण के साथ एक ही आसन पर बैठा, तो राजा शूद्र की कमर में तप्त सलाख दाग देने के लिए इस्तेमाल करे, और उसे देश से निकालना चाहिये अथवा उसका कूल्हा काटना चाहिये।'' श्लोक-

''सहासनमभि प्रेप्सुरुकृटस्या प्रकृष्टजः।
कट्या कृताङ्को निर्वास्यः स्किचं वास्याव कर्त्तयेत।।''

मनुस्मृति ८-२८१

(* कोई समानतावादी शूद्र को अपने साथ आसनपर बिठाता होगा तो मनु के पेट में दर्द होता होगा, क्योंकि उसे समानता चाहिये ही नहीं थी।)

कठोर वचन के लिए के लिए शूद्र की जिह्वा काटने का दण्ड :

शूद्र ने किसी द्विजा को कठोर वचन कहे तो शूद्र की जिह्वा काटने की सजा देने का प्रावधान करते हुये मनु कहते है की, ''अगर शूद्र ने ब्राह्मणवादी तीन वर्ण का कठोर शब्दों से विरोध किया तो उस शूद्र की जिह्वा काटनी चाहिये। क्योंकि शूद्र ब्राह्मणादिक की तुलना में नीच वर्ण से उत्पन्न हुआ है।'' देखे श्लोक-

''एक जाति द्विजातींस्यु वाचा कायण्या क्षिपन्।
जिव्हायाः प्राप्नुयाच्छेदंजधन्य प्रभवो हि सः।।''

मनुस्मृति ८-२७०

शूद्र वर्ण उत्पन्न हुआ नहीं बल्कि ७ तरीके से मूलनिवासियों को शूद्र वर्ण में शामिल किया गया यह मनुस्मृति श्लोक ८-४१५ में कहा गया है। अगर नीच वर्ण ईश्वर के पैरों से उत्पन्न हुआ यह यदि माना भी

जाये तो ईश्वर के वह **नीच पैर** उसे किसने लगाये? वर्णोत्पत्ती मुख, बाहू, जंघा व पैर से होने से मलमूत्र विसर्जन के लिए नीच अंग धारण करने पड़े। इस तरह नीच अंगों का ईश्वर दुसरों को नीच कैसे निर्धारित कर सकता है?

वेद के लिए शूद्र की जिह्वा काटने व हत्या करने की सजा। वेद को ३ वर्ण के लिए पवित्र माना गया, तो भी शूद्र के लिए अपवित्र निर्धारित किया गया। शूद्र ने वेद श्रवण किये अथवा व्याख्यान किया तो गौतम-स्मृति श्लोक २/३४ में शूद्र का वह महाभयंकर अपराध निर्धारित करते हुये कहा है की, ''शूद्र ने यदि वेद श्रवण किया होगा तो उसके कान में सीसा गरम करके भरा जाय। यदि वह वेद का व्याख्यान कर रहा हो, तो उसकी जिह्वा काटी जाये। यदि उसने वेदमंत्र कंठस्थ कर लिया, तो शूद्र का कत्ल करना चाहिये।''श्लोक-

''वेदमुप श्रवणतस्य तुश्यां श्रोयं प्रतिपुरणं।
उदाहरणे जिव्हाच्छेदः धारणे शरीर भेदः।।''

गौतम स्मृति २/३४

वेद के कारण शूद्र को अपनी जान भी व्यर्थ गंवानी पड़ती थी, फिर उसे जान लेने वाली अपवित्र बातों से क्या लेना देना था? जिंदा रहने के लिए उसे जूठा खाना मिलता था, वह उसे वेद से भी पवित्र लगता था।

ब्राह्मण के अपमान के लिए शूद्र को मृत्युदंड :

''शूद्र ने ब्राह्मण का अपमान किया तो उसे मृत्युदंड देना चाहिये'' यह प्रावधान मनुस्मृति श्लोक ८-२६७ में किया गया है। देखे श्लोक-

''शतं ब्रहा कमणमात्कुश्च क्षत्रियो दण्ड महैमि।
वैश्योऽप्यर्धशतंध्वे वा शूद्रस्तु वंधमहेति।।''

मनुस्मृति ८-२६७

ब्राह्मण की चुगली का बलि चढ़ा तपस्वी शम्बूक :

अनेक कथाओं से ज्यादातर राजा और महाराजाओं को चुगली अर्थात निंदा करनेवाले चमचे ही ज्यादा पसंद थे ऐसा दिखाई देता है। शम्बूक की भी राम से चुगली नारद, वशिष्ट ने की थी। उनके **चुगलखोरी** ने ही बलि चढ़ाई महान तपस्वी शूद्र शम्बूक की। इसका जिक्र वाल्मीकि रामायण के अनेक श्लोकों में दर्ज है। उनमें से मिसाल के तौर पर यह वाल्मीकि रामायण का श्लोक-

''भाषततस्य शूद्रस्यः खंग युरूचिप्रभम्।
निष्कृप्यं कोशाद विमलं शिरश्विच्छेद राघवः।।''
वा.रा.श्लोक ७-७६-४

अर्थ : ''शम्बूक के मुख से उसका वर्ण शूद्र व नाम शम्बूक हाने का पता चलते ही राम ने कुछ भी सोचे समझे बगैर अपनी चमचमाती हुई तलवार म्यान से बाहर निकाली और शम्बूक का सिर क़लम कर दिया।''

*** क्या राम के काल में व उसके पहले ब्राह्मण का अल्प आयु में मृत्यु हुआ ही नहीं था? उस जमाने में क्या ब्राह्मण १०० साल का आयुष्य पूरा किये बगैर मरते ही नहीं थे?** वेदांतर के नजदीक के काल में (बुद्ध के ५०० साल पहले) चार्वाक नाम के एक महान दार्शनिक शूद्र ऋषी हो चुके थे। जिसे रामकृष्ण ने नास्तिक व चोर कहा है। उनके काल में भी कोई अल्पायू ब्राह्मण की मृत्यु हुई थी या नहीं? यह कोई बता सकेगा क्या? राम के काल में अल्पायू ब्राह्मण मृत्यू का ढोंग यह केवल दिखावे के लिए ही था, शम्बूक का वध करने के लिए ही। इसलिए राम ने शम्बूक को बचाव का कोई भी अवसर नहीं दिया। असल बात यह थी की शम्बूक की तपस्या व ज्ञान से सम्पूर्ण उच्चवर्णिय की प्रतिभा बेहद फिकी हो गई थी।

मेरे उपरोक्त वक्तव्य के समर्थनार्थ अत्रीस्मृति का १-१९ क्रमांक का श्लोक दे रहा हूँ। उसमें कहा है की, ''उस शूद्र को राजाने मार डालना चाहिये जो हवन करने में मग्न है। जिस प्रकार अग्नि का शत्रू पाणी है, उसी प्रकार तपस्या करनेवाला शूद्र भी राष्ट्र का शत्रू है।'' देखे श्लोक-

''वंधर्यो राजा सर्वे शूद्रोजप होम परस्वयः।
यतो राष्ट्रस्य हन्ता सोयथा वनंश्च वेजलं।।''

अत्रीस्मृति १-१९

कुदरत ने प्रत्येक बात पर हल निर्माण किया है। अग्नि अत्यंत उपयोगी होनेपर भी अच्छे कार्य के साथ साथ उसका गुणधर्म स्वाहा करना ही है। उसके स्वाहा करने के गुणधर्म पर पाणी का प्रयोग किया जाता है। किन्तु यह दोनों ही बातें सजीव प्राणी निर्माण करनेवाले चार घटकों में बेहद जरूरी घटक है। जिस तरह अग्नि बेहद जरूरी है, जैसे घटनाकार ज्ञानमहर्षी डॉ. भीमराव आम्बेडकर राष्ट्र के लिए अत्यंक उपयोगी साबीत हुये।

शूद्र के हवन करने से अथवा ज्ञान प्राप्त करने से राष्ट्र को लाभ ही होता। राष्ट्र का नुकसान तो नहीं होनेवाला था। नुकसान होता तो ब्राह्मण क्षत्रिय का। एक तो शूद्र के ज्ञान प्राप्त करने से उच्चवर्णिय को सेवा करनेवाले दास सुलभ उपलब्ध नहीं होते और शम्बूक समान शूद्र के आगे उच्चवर्णिय की प्रतिभा घास चरने गई थी, इस तरह उच्चवर्णिय को हीनता का एहसास होता।

आधुनिक काल में शूद्रवर्णिय (बहुजन) बेहद मात्रा में शिक्षा ग्रहण करके विद्याविभूषित हो रहे है। फिर सारे के सारे ब्राह्मण अल्पायू मरते हुये दिख रहे है क्या? किसी के विद्या ग्रहण से कोई दुसरा अल्पायू मर नहीं सकता। शम्बूक का वध यह ब्राह्मण्यवाद का धूर्त बाजी थी, यह भूलकर कैसे चलेगा?

कोई कहेगा यह कलियुग होने से अब उस तरह की घटनाऐं घटती नहीं है। इसलिए वैदिक आर्य धर्म के कानून व ब्राह्मण देवता का (और काल्पनिक देवता का भी) सत्त्व अथवा महात्म्य उपयोगी सिद्ध नहीं हो रहा।

दरअसल, वैदिक आर्य धर्म काल में उत्तम युग कभी भी था ही नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्य सैंकड़ो देवीदेवताओं के गुण और चारित्र्य हम ग्रंथ से पढ़ते ही है और इन प्रस्तुत ग्रंथ में भी अनेक किरदार निकृष्ट दर्जा के शील, नीती, धर्म विरहित पायेंगे। इसलिए फलाँ युग बेहतर था और कलियुग बदतर है ऐसा कहना केवल लोगों को मुर्ख बनाने के अलावा और कुछ नहीं भी है।

बेहतर युग कौनसा था यह सत्य कबूल करने की हिम्मत है तो कहना पडेगा की, सिंधु संस्कृति का युग बेहतर था, बुद्ध धम्म के प्रभाव के काल में भी युग बेहतर था। क्योंकि उस समय समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व व न्याय एवं सत्य पर निर्भर युग था यह मानना ही होगा। किन्तु इन दोनों सत्ययुग का अंत इराणी वैदिक आर्यधर्मियों ने किया और कलीयुग स्थापन किया यह भूलकर कैसे चलेगा?

विरासत में किसे क्या मिला इस आलेख से क्या सीख ग्रहण करें :

इस आलेख से यह स्पष्ट होता है की, चातुर्वर्ण्य यह किसी ईश्वरकी निर्मिती ना होकर वह वैदिक आर्य ब्राह्मण की इंद्र के मदद से की गई निर्मिती है। वैदिक आर्य ब्राह्मण ने ईश्वर की निर्मिती कल्पना से की थी। **वेद की निर्मिती स्वयं करके वह ईश्वर के (?) नामपर नीलाम कर दी और इसी योजना के तहत लोगों के ज़हन में अंधश्रद्धा को गहराई तक अंकित कर दिया।**

चातुर्वर्ण्य की सहायता से ईश्वर की अंधश्रद्धा जनता के मन, मस्तिष्क में ठूस ठूस कर भरने में वैदिक आर्य ब्राह्मण सफल हो गये। यह सब ईश्वर के मोहक नाम के तले अंधश्रद्धा निर्माण कर अपनी मोहर लगाने में वे कामयाब हो गये, और वह भी इतने की, कितने भी रहस्य उजागर करने के लिए वैदिक धर्म ग्रंथ से मिसालें दी जाये फिर भी अंधश्रद्धा कम होने का नाम ही नहीं लेती। इसलिए इस देश में फिर से रामराज्य लाने की भाषा बोली जा रही है किन्तु यह कितने लोगों को पता है की रामराज्य कैसा था? मुझे ज्ञात हुआ वह वाल्मीकि रामायण के श्रवण व अभ्यास से।

(**अनुवाद** : प्रतिभा)

देवदासियों की व्यथा–कथा

–के.एस.तूफान

मो. ०९८९७४८६६४०, ०९४५६२४७६७७

ब्राह्मणों नें सत्ताधारी होने के कारण बहुत सी बुराइयां पैदा हो गयी थी। इनमें से बहुत से न तो विद्वान हुए है और न ही योग्य। ब्राह्मण भुसूर, भूदेव, महीसुर तथा पृथ्वी का देवता माना जाता था। अतः वह अपने को सर्वश्रेष्ठ मानता था। इसलिए उसने ऐसे नियम, नीति तथा रीति–रिवाज बनाये, जिससे आमजन का शोषण हुआ। महिलाओं का यौन–शोषण करने हेतु उसने न केवल नियोग प्रथा का प्रचलन किया, वरन् देवदासी प्रथा का भी नियम बनाया। **प्राचीन काल से ही इन बुराइयों को धर्म के नाम पर संरक्षण प्राप्त होता रहा है, अतः कभी भी इनका पूर्ण रुप से उन्मूलन नहीं हो सका।** सती प्रथा, दहेज प्रथा एवं 'देवदासी' प्रथा ऐसी ही बुराइयां हैं। यों तो प्राचीन काल से ही नारी का शोषण किया जाता रहा है, किन्तु 'देवदासी प्रथा' को धर्म के नाम पर 'नारी यौन शोषण' की संज्ञा दी जाए, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। ध्यान देने योग्य तथ्य है कि शास्त्रीय नृत्यों में नर्तकी के पांवों की थिरकन, नैनों का संचालन एवं हाथों की विशेष मुद्राएं तथा अंग संचालन का एक विशेष ढंग, देवताओं को प्रसन्न करने की कला का ही प्रारुप एवं प्रदर्शन रहा हे, जिससे विभिन्न प्रकार के नृत्यों का उद्‌गम अथवा जन्म हुआ है। विचारणीय प्रश्न यह है कि जो लोग दलित जातियों को मन्दिरों में प्रवेश तक नहीं करने देते, वे ही उनकी लड़कियों को देवताओं के समक्ष नचाते हैं तथा उनका यौन–शोषण कर सन्तान उत्पन्न करते हैं। इस धूर्त कर्म से न तो सवर्ण हिन्दुओं के मन्दिर अपवित्र होते है और न ही उनके देवता।

गायन–वादन एवं नृत्य के क्षेत्र में भारत का विश्व में अपना विशिष्ट स्थान रहा है। भारत में नृत्य की एक विशिष्ट परम्परा एवं शैली भी रही है। निःसंदेह इसकी पृष्ठभूमि में देवदासियों की करुण चीत्कार, घुंघरुओं से लहूलुहान पांवों का दर्द एवं अंग संचालन में त्रासदी की मूक कहानी छिपी हुई है। कैसी विडम्बना है कि रंगमंच पर अथवा फिल्मों में सोनल मानसिंह, इन्द्राणी रहमान, वहीदा रहमान, सितारा देवी, यामिनी कृष्णमूर्ति, शोभना नारायण, शोभना शर्मा, उमा शर्मा, वैजयन्ती माला, हेमा मालिनी, आशा पारेख, पद्मा खन्ना, श्रीदेवी, जयाप्रदा तथा माधुरी दीक्षित एवं अन्यानेक नर्तकियों के भरतनाट्यम, कथ्थक, कुचीपुडी, कथकली, मणिपुरी, ओडिसी अथवा हल्के–फुल्के नृत्यों के विषय में अक्सर हम चर्चा करते हें, किन्तु बहुत कम व्यक्ति यह जानते होंगे कि इन नृत्यों के पीछे उन नारियों के कारुणिक इतिहास की लोमहर्षक गाथा है, जिन्हें 'म्हारी' अथवा 'देवदासी' तथा 'देवप्रिया' के नामों से पुकारा जाता है। ये नारियां यौवन काल में मन्दिर के देवता को प्रसन्न करने हेतु नृत्य तथा पूजा–अर्चना करती हैं। ये शादी नहीं कर सकती, फिर भी हिंदुत्व के ठेकेदारों की कामपिपासा का शिकार होकर इनके बच्चे पैदा होते रहते है और अन्ततः इन्हें वेश्यालयों में धकेल दिया जाता है। आंकड़ों के अनुसार ई.१००० में तंजाबूर के मन्दिर में ४०० देवदासियां थीं पर हैदराबाद स्थित नेशनल इन्स्टिटयूट ऑफ सोशल एक्शन द्वारा कुछ वर्ष पूर्व किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार आन्ध्र प्रदेश के अकेले निजामाबाद जिले में १० हजार देवदासियां हैं और समस्त तेलंगाना क्षेत्र में उनकी संख्या २५ हजार के लगभग है। देवदासियों के नारकीय जीवन के ऊपर १९८७ में बनी एक फिल्म 'गिद्ध' (स्मिता पाटिल, ओमपुरी) के माध्यम से भी देवदासियों की त्रासद स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

'देवदासी प्रथा' का उद्गम स्थान कर्नाटक राज्य के बेलगाम जिला के ग्राम सांदगी में पहाड़ी पर स्थित देवी रेणुका/यरुलमा (परशुराम जी की माता)/येलम्मा का मन्दिर है। पौराणिक कथा के अनुसार ऋषि जमदाग्नि को अपनी पत्नी रेणुका के चरित्र पर संदेह हो गया। उन्होंने अपने पुत्र (परशुराम) को रेणुका के शिरोच्छेदन की आज्ञा दी। मातृहत्या के बाद परशुराम ने माता का जीवन मांगा और उधर से गुजर रही एक मातंग (दलित/अनुसूचित जाति) महिला का सिर काटकर अपनी माता के धड पर रख दिया। जीवित होने के बाद यही यरूलमा बनी और अनुसूचित जाति तथा मातंग आदि की देवी कहलाई। पहाड़ी पर त्रिवेणी तीर्थ और यरूलमा, परशुराम आदि के मन्दिर हैं। यही पर लोग अपनी कन्याओं को अन्धविश्वास के कारण मन्दिर को अर्पित करते हैं। देखा जाए तो देवदासी प्रथा धर्म की आड़ में एक प्रकार की वेश्यावृत्ति ही है। कैसी विडम्बना है कि मन्दिर को चढ़ाई गई कन्याएं, मृत्युपर्यंत विवाह नहीं कर सकती। क्योंकि इनका विवाह देवता के साथ हुआ माना जाता है और इन कन्याओं का कार्य देवता के समक्ष पूजा, अर्चना तथा नृत्य करना होता है। वास्तविकता यह है कि फिर भी इनको सन्ताने उत्पन्न होती रहती है। निश्चय ही प्रारम्भ में इनका उपभोग पंडे-पूजारी करते हैं तथा प्रभावशाली व्यक्तियों को भी भेंट की जाती रहती है और अन्त में इन्हें वेश्यालयों की शरण लेनी पड़ती है।

महिलाओं के लिए नारकीय जीवन का द्वार खोलने वाली कुरीति में सबसे अहम भूमिका 'अन्धविश्वास' की है। 'भविष्य पुराण' में कहा गया है कि जो कोई स्त्रियों का समुदाय मन्दिरों को दान करेगा, उसे 'सूर्यलोक' का स्वर्ग प्राप्त होगा। भविष्य पुराण के अनुसार देवदासियों को दत्ता, विक्रिता, भृत्या, हता, अलंकृता तथा गोपिका आदि नामों से जाना जाता है। सूर्यलोक के सुख के लोभ में लोग अपनी ललनाओं को दान करते हैं। यदि किसी के बालों में बट पड़ जाए अर्थात् बालों की जटा बंध जाए तो ऐसा माना जाता है कि उस कन्या को देवी 'येरूलमा' ने अपनी सेवा हेतु मांग लिया है। फिर यह सम्भव ही नहीं है कि कन्या के मां-बाप उसे मन्दिर में समर्पित नहीं करें। उन्हें देवी येलम्मा के प्रकोप के आतंक का भय दिखाकर मजबूर किया जाता है तथा समाज भी उन्हें ऐसा करने के लिए दबाव डालता है। समाज के अनुसार यदि ऐसा नहीं किया गया तो देवी येलम्मा रूष्ट होकर समस्त ग्राम/नगर अथवा समाज को परेशारन कर देगी। गौरतलब यह है कि देवी यरूलमा के प्रकोप से बचने हेतु सवर्ण हिन्दू समाज अपनी बेटियां मन्दिर में दान नहीं करता। यह जिम्मेदारी मात्र दलितों/अनुसूचित जातियों पर है कि वे समस्त समाज को प्रकोप से बचाने हेतु अपनी बेटियां मन्दिर को दान करें। यह भला कहाँ का न्याय है?

वैसे तो नारी के कोमल शरीर से खिलवाड़ करने हेतु पुरुष ने उसे वेश्या, गणिका, वारांगना, जनपद-कल्याणी तथा नगर वधू के नामों/उपाधियों से विभूषित किया है। किन्तु धर्म के नाम पर मन्दिरों में अबलाओं के साथ यौनाचार अपने आप में अक्षम्य अपराध ही नहीं, वरन् धर्म के नाम पर कलंक है। यशपाल की 'दिव्या' को छोड़कर भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' एवं आचार्य चतुरसेन की 'आम्रपाली' तथा अन्य नगरवधूएं दलित की ही थी। वात्स्यायन की चन्द्रिका, चारुदत्त की वसन्तसेना, अजातशत्रु की आम्रपाली और बीजगुप्त की चित्रलेखा प्रख्यात नृत्यांगनायें रही हैं। प्रख्यात भरतनाट्यम तथा ओडिसी नृत्यांगना सोनल मानसिंह, यतीन्द्र मीश्र को एक साक्षात्कार (पुस्तक-देवप्रिया) में बताती है कि ''भरतनाट्यम नामकरण तो बहुत ही नया है ये प्राचीन नहीं है।'' उसका पुराना नाम 'दासीअट्टम' था, जो २५०-३०० साल पहले प्रचलित था। उस समय मन्दिरों में या राजदरबारों में देवदासियाँ नृत्य करती थी। उस कारण देवदासी, राजदासी एवं सामान्यदासी उसके यह तीन मुख्य

वर्गीकरण थे। तो दासीअट्टम नाम (अट्टम अर्थात् नाचना) इसलिए पड़ा कि देवदासियाँ यह नृत्य किया करती थी। सोनल मानसिंह कहती है कि नृत्य के सन्दर्भ में, खासकर भरतनाट्यम के सन्दर्भ में देवदासियों का दाय भले ही महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक रहा हो, उनके पदम और गीत भले ही आज दक्षिण भारतीय नृत्य परम्परा के गौरवशाली दस्तावेज हों, मगर इस बात से कौन इन्कार करेगा कि स्वयं उनका जीवन अंधेरे में रहता था और वे स्त्रियाँ कलाओं के संसार में अपनी निष्कलुषता के प्रकाश से उजाला भरती थी। एक देवदासी मृत्यु के बाद, देवता की अर्धांगिनी होने की भले ही पूर्णरुपेण वैधता अर्जित कर लेती रही हो, मगर यह परम्परा देवदासियों के आईने में नृत्य की गरिमा को छोड़कर, कितनी न्यायसंगत ठहरती हैं, जहाँ पूरा जीवन मात्र उन्हें देह की सत्ता के रुप में बरता जाता रहा हो? देवदासियों को 'नित्य सुमंगली,' 'नित्य कल्याण' कहा जाता था, जिनका मंगल अवसरों पर दिखना कल्याणप्रद था। मगर अपने में यह देखना कितना विरोधाभासी है कि दूसरों के लिए कल्याण की कामना रचने वाली इन स्त्रियों का, खुद का जीवन कितने अन्धकार में था।

वर्ष १९४७ में जाते-जाते अंग्रेज 'देवदासी प्रथा' को प्रतिबन्धित कर गये। मगर देवदासी प्रथा के कलंक को मिआने हेतु समय-समय पर प्रयास होते रहे हैं। कानून बनाए जाते रहे हैं। किन्तु खेद का विषय है कि इस प्रथा को पूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता है और प्रतिवर्ष हजारों मासूम कन्याएं इस अमानवीय प्रथा की बलिवेदी पर चढ़ा दी जाती हैं। १९०४ में डॉ. भन्डारकर ने तो सौ बुद्धिजीवियों के हस्ताक्षर से युक्त देवदासी प्रथा के विरुद्ध एक पत्रक निकाला था। सर्वप्रथम मैसूर सरकार ने १९१० में कानून बनाकर इस प्रथा के विरुद्ध रोक लगाई। १९२४ में बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर जी ने इस प्रथा के विरुद्ध बिगुल बजाया। मुम्बई सरकार ने १९३४ में देवदासी संरक्षण कानून बनाया। मद्रास सरकार ने १९२२ में तथा आन्ध्रप्रदेश सरकार ने १४ अगस्त १९५६ को कानून बनाकर देवदासी प्रथा और विवाह जुलूसों के सामने स्त्रियों के नाच-गाने को अपराध घोषित किया। कर्नाटक सरकार ने 'कर्नाटक देवदासी समर्पण निषध विधेयक, १९८१' पास करके राज्य में लड़कियों को देवदासियों के रुप में समर्पण पर रोक लगाई। इस कानून के अनुसार देव समर्पित लड़की पुनः विवाह कर सकती है और उनकी सन्तान भी वैध मानी जाएगी। कानून में यह भी व्यवस्था है कि जो व्यक्ति देवदासी समर्पण समारोह का आयोजन करेगा अथवा उसमें सम्मिलित होगा, तो उसे ३ वर्ष की सजा तथा २००० रुपये जुर्माना हो सकता है। इसी प्रकार ३१ मार्च, १९८७ को आन्ध्र प्रदेश सरकार ने भी, महिलाओं को देवी समर्पण की प्रथा को अर्वध एवं गैर-कानूनी घोषित करके उसे संज्ञेय एवं गैर-जमानती अपराध बना दिया है। अब इस प्रकार के अपराध में पुलिस हस्तक्षेप कर सकती है।

भारतीय देवदासी प्रथा को देखकर क्या 'बाबुल' तथा 'सुमेरियन' सभ्यता में नारी के 'यौन-शोषण' की कथाएं भी गौण सिद्ध नहीं हो जाती? विद्वानजनों को इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि 'देवदासी प्रथा' भले ही शास्त्र सम्मत एवं धार्मिक ही क्यों न हो, हमें ऐसी प्रथा को जिन्दा नहीं रखना है। यदि हमारा धर्म भी इस प्रथा का समर्थन करता है, तो हमें नारी की अस्मिता एवं गरिमा बनाये रखने हेतु, ऐसी किसी भी धार्मिक प्रथा का प्रबल विरोध करना चाहिए, 'यत्र नार्यस्तु पूजयन्तः रमन्ते तत्र देवता' का रट्टा लगाने वालों के पास देवदासी प्रथा के चलते नारी को पूजने का कोई बजाना बचता है? **क्या नारी के केवल भोग्या मानना, कवेल मांसल देह मानना तथा केवल मादा मानना श्रेयस्कर है?** देवदासी प्रथा के चलते क्या भारतीय समाज सभ्य कहलाने का अधिकारी है? वस्तुतः आज आवश्यकता इस बात की है कि

इस 'धार्मिक वेश्यावृत्ति' के विरुद्ध लोगों को शिक्षित कर जन-जागरण किया जाए, जिससे 'नारी देह शोषण' का यह सिलसिला समाप्त किया जा सके। सामान्यतः यह देखा गया है कि कानून एवं सामाजिक परम्पराओं में टक्कर होने पर कानून मात खा जाता है। इसलिए विधिव् धार्मिक प्रथा का रुप भी धारण कर गयी है। देखा जाए, तो यह मध्ययुगीन एवं सामन्तवादी परम्परा है, जिसमें नारी को केवल उपभोग्या के रुप में ही देखने का प्रचलन था। आज सभी ओर से एक स्वर से इस कुरीति के विरुद्ध आवाज उठनी चाहिए। क्या अशोक सिंघल, प्रावीण तोगड़िया, मोहन भागवत्, चारों शंकराचार्य तथा हिन्दुत्व के अन्यानेक ध्वजवाहक, नारी शोषण की प्रतीक 'देवदासी प्रथा' (धार्मिक वेश्यावृत्ति) के विरुद्ध 'धर्मयुद्ध' का शंखनाद करेंगे?

इतिहास संदेश का मकसद

इतिहास संदेश वास्तव में राष्ट्रीय जन आंदोलन का एक हिस्सा है। राष्ट्रीय जन आंदोलन विचार परिवर्तन का आंदोलन है। विचार ही वह चिकित्सा है जो ८० करोड़ भारतियों को मानसिक गुलामी से छुटकारा दिला सकती है। मानसिक गुलामी एक ऐसी अवस्था है जिसे प्रगट रुप से प्रायः पढ़े-लिखे और अनपढ़ (भी) सहसा स्वीकार नहीं करते है।

ईसापूर्व १८५ से लगातार २५०० वर्षों तक इस देश की सोच को, मस्तिष्क को गुलामी के शिकंजे में अनेक रूपों में जकड़ा गया। बुद्ध, कबीर, नानक आदि और आधुनिक काल में राष्ट्रपिता ज्योतिबा फूले, पेरियार और अंत में डॉ. बाबासाहब आम्बेडकर ने इस गुलामी की जड़ तक पहुँचकर उन मूल कारणों को उजागर किया। उनका मार्ग इतिहास ही था।

सत्ता परिवर्तन (१९४७) के बाद भी एक गुलामी बाकी है। वह २५०० वर्षों की गुलामी से मुक्ती प्राप्त करने की मुहिम ही यह इतिहास संदेश का लक्ष्य है।

जो घटनायें आपके आस-पास घट रही हैं जो घटनायें, विचार, आज आपको दो बारा गुलाम बनाने के लिये घेर रहे है, एक सजग पाठक के नाते उन्हें समझें और कलम चलायें-अपनी टिप्पणियाँ भेजे, फोटो इत्यादि भी भेजें।

इतिहास संदेश एक मुहिम है यह हमेशा स्मरण रखें। इस मुहिम का आप हिस्सा बनिये और अधिक से अधिक लोगों तक इतिहास संदेश को पहुँचाये।

-संपादक

इतिहास क्यों

–लाल बहादुर वर्मा

हमारा सरोकार आज से (वर्तमान से) अपरिहार्य रुप से है क्योंकि हम 'आज' और 'अभी' में ही जीते हैं। हमारा सरोकार आनेवाले कल से भी होगा ही क्योंकि उससे सीधा साक्षात्कार होगा। पर बीते कल में हमारे क्यों रुचि हो? जिसे कोई और काम न हो वह गड़े मुर्दे उखाड़े, जिसे आज अच्छा न लगे वह कल की शरण में जाए– यह सहज मानसिकता हो सकती है। फिर ऐसे में इतिहास की क्या जरुरत?

साहित्य और कुछ नहीं करता तो मनोरंजन ही करता है। विज्ञान नौकरी दिलवाता है। अर्थशास्त्र से घर का बजट और समाजशास्त्र से घर का स्वरुप और समाज से रिश्ता समझ में आ जाता तो ही शायद, यानी, ज्ञान–विज्ञान, साहित्य का संबंध उससे है जिसका अस्तित्व है। इतिहास का, अतीत का, तो कोई प्रत्यक्ष अस्तित्व है नहीं। इतिहास का संबंध उससे है जो 'था'। हम तो 'हैं' फिर 'था' का क्या करें?

सामान्यतः ऐसा सोचा जाता रहा है कि, जिस चीज की कोई तात्कालिक और प्रत्यक्ष उपयोगिता न हो उसका होना न होना बराबर है। यानी कुल सवाल उपयोगिता का है। वही निर्णायक है।

इतिहास की उपयोगिताः इसके पहले कि हम इतिहास को वैचारिक –दार्शनिक दृष्टि से उपयोगी सिद्ध करें, आइए, हम अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टि से देखें की इतिहास की उपयोगिता क्या है? सबसे पहले जो बात ध्यान में आती है वह यह कि फार्मों वाले देश में कोई भी फार्म लें उसमें प्रार्थी के नाम के बाद के दो–तीन कालम महत्वपूर्ण होते हैं, बाप का नाम, जन्मतिथि, पता आदि। हमें तो महज प्रार्थी से मतलब है। तो फिर अन्य विवरणें की क्या आवश्यकता? पर हम जानते हैं कि बिना बाप के पहचान ही पूरी नहीं होगी। हमारी पूरी पहचान के लिए हमारी जन्मतिथि और पता भी जरुरी है यानी हमें काल (जन्मतिथि) और देश (पता) में स्थापित करके और हमें अपने अतीत यानी बाप से जोड़ा जाता है ताकि शिनाख्त हो सके। उपर्युक्त तीन बातें से जुड़े बगैर मेरा परिचय और मेरा अस्तित्व पहचान नहीं बन सकता, यानी **वर्तमान बिना अतीत से जुड़े अनाम, अस्वीकृत, अज्ञात और अज्ञेय बना रहेगा।**

पॉल वाइस के अनुसार अपने को अतीत से जोड़ने में आनंदानुभूति होती है। मनुष्य अपने स्त्रोत की चेतना से अपने को आश्वस्त कर लेता है कि वह अकेला, निर्लम्ब नहीं है। मानव स्वभाव है कि वह किसी चीज को किसी परिप्रेक्ष्य में रखकर ही पहचान सकता है, उसे पूरी तरह समझ सकता है। अब तो 'सापेक्षता' विज्ञान की भी स्वीकृत धारणा है। कोई चीज किसी संदर्भ में ही मोटी, पतली, लम्बी, छोटी, अच्छी या बुरी होती है। किसी व्यक्ति की किसी और से तुलना कर उसकी अच्छाई या बुराई को रेखांकित और बोधगम्य बनाते है। दूसरे शब्दों में, तुलना और उदाहरण बुद्धि द्वारा विकसित बौद्धिक उपकरण हैं। साहित्य में भी उपमा और रुपक सरलीकरण और संप्रेषण के उपादान है और सौंदर्य बोध को समृद्ध करते हैं।

किसी समाज विशेष को कैसे जानें–पहचानें? एक तरीका होता है उसे अन्य समाजों के मुकाबले देखने का जैसे आज के भारत को आज के पाकिस्तान, चीन या अमेरिका के संदर्भ में देखने का या फिर आज के भारत को कल यानी प्रारंभिक काल, मध्यकाल या औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य में देखने का। फिर आज के भारत को पश्चिमी समाज के बगल में खड़ा करके देखने की अपेक्षा आज के बीते कल से जोड़कर देखने में अधिक सही पहचान बनती है। इससे विकास धारा

का, इतिहास की दिशा का पता चलता है। इसलिए वर्तमान को इतिहास से ही परिप्रेक्ष्य मिलता है। दूसरे शब्दों में, हम जानते है कि बिना दूरी लिए कोई चीज पूरी तरह दिखाई नहीं देती और वर्तमान से दूरी लेने का एकमात्र तरीका है उसे अतीत से जोड़कर उसी के क्रम में देखना।

अतीत के प्रति मनुष्य का नैसर्गिक लगाव होता है। इतिहास इस लगाव की पहचान स्पष्ट कर सकता है- मां से सहज ढंग से प्यार करना एक बात है और ममत्व को समझना, उसका मूल्यांकन करना, दूसरी बात। वैसे ही अतीत से लगाव सब में होता है- सहज, नैसर्गिक, लेकिन **इतिहास उस लगाव को इतिहास-बोध में बदल सकता है। संवेदना और भावना के यथार्थ को बौद्धिक यथार्थ-ज्ञान और विवेक में विकसित कर सकता है। यानी उस लगाव को प्रासंगिक और उपयोगी बना सकता है।**

इतिहास से **सबक** लेने की बात सबसे व्यावहारिक मानी जाती रही है। जैसे कोई आग से जला और यह समझदारी सबकी विरासत बन गई कि आग से आदमी जल सकता है। मुहम्मद तुगलक ने राजधानी बदली और तमाम मुसीबतें खड़ी हो गई। इसलिए ऐतिहासिक मुहावरा बना 'दिल्ली से दौलताबाद' और इसे यानी राजधानी परिवर्तन, यानी स्थान परिवर्तन को गलत मान लिया गया। इस सबक वाली बात में मुख्य खतरा यह है कि 'इतिहास की पुनरावृत्ति होती है,' जैसी अवधारण पनपती है, जो गलत है। जैसे राजधानी बदलने में कठिनाई हो पर ऐसा करना हमेशा गलत नहीं है। कभी-कभी वह जरुरी भी होता है, सफल भी होता है। कलकत्ते से दिल्ली, इलाहाबाद से लखनऊ, बर्लिन से बान सफल राजधानी परिवर्तन रहे हैं। यह सबक वाली बात सीधे जुड़ती है इस मुहावरे से - 'दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंककर पीता है।'

यह अनुभवों के सार-संकल्प से लाभ उठाने का पुराना व्यवहारवादी तरीका है। कल्हण ने इन्हीं अर्थों में इतिहास को उपयोगी माना था। इसी अर्थ में इतिहास प्रेरणास्त्रोत बनता है- अतीत नायकों के चरित्र और उपलब्धियों के माध्यम से आज को प्रेरणा देता है। यहां भी खतरा यही होता है कि अगर इतिहास की पुनरावृत्ति वाली बात दिमाग में रही तो एक देश-काल में सफल नीति या व्यक्ति को अनुकरणीय मान लिया जा सकता है, जो घातक होगा। जैसे अकबर की धार्मिक नीति को संकल्प मानकर आज भी उसे लागू करने वाले मुंह के बल गिरते हैं। क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलनों के दौरान कांग्रेस की धार्मिक नीति या सरकारों की धर्मनिरपेक्षता अकबर की धार्मिक नीति की तरह रही है। उसी की तरह धर्मनिरपेक्षता का मतलब है 'सर्व धर्म समभाव' लेकिन तमाम पर्दो के बावजूद यह तथ्य आंखों में घूरता है, अधिकांश लोगों के मनों में चोर की तरह बैठा रहता है और मौका पाते ही सेंध लगाता है और लोग भूल नहीं पाते कि सब कुछ करते हुए भी अकबर मुसलमान था और वही माना जाता रहा है।

इस प्रकार एक ओर इतिहास से सबक लेने की बात सच है तो दूसरी ओर गलत सबक लेने की बात भी सच है। और सबसे ज्यादा सच यह है कि हीगेल के अनुसार 'इतिहास की सबसे बड़ी सीख यही है कि इतिहास से कोई सीख नहीं लेता।' न स्वयं हीगेल ने कोई सीख ली, न उसके देश जर्मनी ने, न उसके विचारें के अनुयायियों ने।

अब आइए इतिहास की उपयोगिता को और गंभीरता से परखें। हम जानते हैं कि कारण कार्य संबंधों की तलाश में प्रकृति से आंकड़े जुटाकर प्राकृतिक परिघटनाओं (फेनामेनन) को प्रयोगशाला में दोहरा कर इतने तथ्य जुटाए गए कि उसके आधार पर सामान्यीकरण किया जा सके और निर्देशित किया जा सके- भविष्य के बारे में बताया जा सके। प्राकृतिक विज्ञान में ऐसा संभव हुआ और मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ा। जहां कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित

न हो सके, उसे अविश्वासनीय माना गया। इसलिए देकार्त ने इतिहास को अविश्वसनीय कहा था। आज भी बहुत से लोग इतिहास को किस्सा-कहानी ही समझते हैं।

फिर शुरु हुई सामाजिक विकास के नियमों की तलाश। ऐसे विचारक हुए जो समाज को समझने के नियमों और उसके परिवर्तन को नियमबद्ध करने, नियंत्रित और निर्देशित करने की कोशिश करते रहे। ज्ञान के जिन क्षेत्रों में ऐसा नहीं हो सकता था उन्हें नकारा जाने लगा। **ओगस्तु कोंत** ने 'सामाजिक भौतिकी' की तलाश कर लेने का दावा किया और समाजशास्त्र का जनक कहलाने लगा पर वास्तव में सामाजिक विकास के वस्तुगत नियम ढूंढने और उन्हें यथासंभव लागू करने का काम **मार्क्स** ने किया।

मार्क्स प्रकृति की द्वंद्वात्मकता से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तक पहुंचा और उसे इतिहास पर लागू कर आगे ऐतिहासिक भौतिकवाद तक पहुँच गया। उसने इतिहास के तथ्यों के विश्लेषण से ही जाना कि इतिहास कैसे गतिमान हो रहा है- मानव-समाज कैसे आदिम स्थिति से पूंजीवादी व्यवस्था तक पहुंचा है। उसी विश्लेषण से उसने सामाजिक परिवर्तन के नियम का आधार उत्पादन साधनों और उत्पादन संबंधों में परिवर्तन को सिद्ध किया और वर्ग-संघर्ष को निर्णायक अनिवार्य माध्यम बताया। उसने भविष्यवाणी की कि जैसे सामंतवाद को पराजित कर पूंजीवाद विकसित हुआ है वैसे ही पूंजीवाद को ध्वंस कर सर्वहारा अपना राज्य कायम करेगा। १९१७ की रुसी क्रांति के बाद मार्क्स द्वारा निरुपित नियम इतिहास में कई बार सिद्ध हो चुके है। इसलिए इतिहास ही वह प्रयोगशाला है जिसमें मानव-कृतियों का लेखा-जोखा सुरक्षित है और उसी आधार पर सामाजिक परिवर्तन के वस्तुगत नियम समझे जा सकते हैं- उसी के आधार पर अतीत को समझा, वर्तमान को पहचाना और भविष्य को संवारा जा सकता है।

इसके अलावा इतिहास संकीर्णता का शत्रु है। इतिहास का 'सही' (वैज्ञानिक) अध्ययन करते ही देशकाल की विशिष्टता तो रेखांकित होती है पर मानव-समाज की एकता उससे भी अधिक उजागर होती है। जैसे इतिहास यह बताएगा कि भारत में असम, पंजाब या तामिलनाडु की अपनी विशिष्टता है पर यह भी कि भारतीयता भी एक ऐतिहासिक यथार्थ है इतिहास बताता है कि वैज्ञानिक युग के प्रारंभ यानी पंद्रहवीं शताब्दी के बाद विश्वसमाज की एकता उजागर होती चली गई है। हर समाज और वर्ग अपने जैसों से एकाकार महसूस कर एकजुटता प्रदर्शित करता रहा है। इसे साहित्य, दर्शन, कला और विचार में अभिव्यक्ति मिलती रही है।

जहां एक तरफ यह एकता स्पष्ट हुई है, वहीं पर यह भी कि एकता विविधता और विशिष्टता की विरोधी नहीं है। दोनों में द्वंद्वात्मक सह-अत्वित्व संभव ही नहीं, अनिवार्य है। एक की कीमत पर दूसरे को स्थापित नहीं किया जा सकता। जब भी एकता आरोपित हुई है, और प्रायः ऐसा ही होता रहा है, तब तब एकता भंग हुई है, उतनी भी नहीं रह पाई है जितनी आरोपण के पहले थी। भारतीय समाज का इतिहास इसका ज्वलंत साक्षी है।

इतिहास मनुष्य की प्रगति यात्रा के शानदार महाकाव्य जैसा है, बिना नायक और खलनायक के। धर्मग्रंथों में स्वर्ण काल के अतीत में और कयामत के दिन के भविष्य में होने पर जोर दिया गया है। उनके अनुसार समाज पतनोन्मुख है और पाप का घड़ा भर रहा है, एक दिन फूटेगा और प्रलय होगी। परिवर्तन तभी संभव है। ऐसी धारणा से मनुष्य निराश और आतंकित होता है। इसके विपरीत इतिहास यह बताता है कि मनुष्य अमीबा से आदमी बनने तक की यात्रा पूरी कर आदमी से इंसान और इंसान से बेहतर इंसान बनने के संघर्ष में रत है। आदिम जंगली व्यवस्था की प्रकृति की गुलामी तोड़कर मनुष्य आजाद हुआ। उसने

अपने उपकरण बनाए। बुद्धि का विकास किया और प्रकृति से संघर्ष कर उस पर नियंत्रण करने लगा। दिन-ब-दिन सभ्यता और संस्कृति का विकास होने लगा। इस दौरान इसने स्वयं तरह-तरह के बंधन पैदा किए- वर्गों, वर्णों, गुटों में बंटा। आपस में लड़ता रहा, संहार करता रहा। फिर भी- इस सबके बावजूद, वह धरती के अलावा आकाश-पाताल भी भेदने लगा, ग्रह नक्षत्रों पर ''इरादों की कमान' डालने लगा।अपने बंधन तोड़ने लगा, बेहतर इंसान बनने की लड़ाई में लगा रहा। यानी इतिहास इंसान की लगातार बढ़ती जा रही जातों का साक्षी है, उसके उज्वल भविष्य का उद्घोष कर रहा है।

इतिहास नियतिवाद पर भयानक प्रहार करता है। इतिहास में ही हमें पता लगता है कि **इंसान की जीत हाथ पर हाथ धरने से नहीं, महापुरुषों के इंतजार से नहीं, स्वयं समवेत रुप में महाबली बनने से संभव हुई है।** इतिहास व्यक्तियों के प्रयासों और उपलब्धियों को बताता ही है, वह समाज के समवेत प्रयास को रेखांकित करता है- सिकंदर हो या नेपोलियन, इतिहास उनकी जीत के पीछे उनके समाजों की शक्ति को उजागर करता है, इसलिए मनुष्य के भविष्य में ही नहीं उसकी शक्ति में भी विश्वास पैदा करता है।

इतिहास अगर मनुष्य की कृतियों का लेखा-जोखा है तो निश्चित ही मनुष्य को समग्रता में जानने का और कोई उपाय ही नहीं है। जिस समाज में हम रहते हैं, उसके वर्तमान स्वरुप को उसमें रहते हुए हम समग्रता में ग्रहण ही नहीं कर सकते, देख-समझ ही नहीं सकते। उसमें दूरी लेने का एक तरीका है कि हम वर्तमान से अतीत तक को लें। यद्यपि संयुक्तता की संभावना तभी भी रहती है क्योंकि **इतिहास के क्षेत्र में मनुष्य लेखक भी होता है और अपने लेखन का विषय भी,** दोनों एक साथ। पर अतीत को देखने में जो परिप्रेक्ष्य मिलता है वह कमीबेश समग्र प्रभाव छोड़ सकता है। इसलिए साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र मनुष्य के अंतरंग, निर्णायक या जरुरी पक्षों का अध्ययन कर सकते हैं पर **मानव कृतियों का कुल योग इतिहास का ही विषय है।**

जीव जगत का कोई अन्य प्राणी अपने अतीत को उपयोगी बनाने को कौन कहे, उसके प्रति सचेत भी नहीं होता, किन्हीं-किन्हीं में सहजानुभूति के स्तर पर कोई लगाव हो या चेतना हो भी तो कम से कम उसका अर्थ समझने की और उसे अपने हित में इस्तेमाल करने की क्षमता नहीं होती। मानव-समाज के विकास-क्रम में अतीत, वर्तमान के लिए प्रासंगिक और अनिवार्य होता गया है। विकसित मानव ही अतीत का विश्लेषण और संकलन कर सकता है और इतिहास के माध्यम से महसूस कर सकता है कि वह कालधारा में बह नहीं रहा है, तैर रहा है।

इसलिए इतिहास मनुष्य के विकास का उद्घाटक ही नहीं प्रमाण भी है, **मानव-समाज को समझने का ही नहीं उसे बदलने का भी अनिवार्य उपकरण है।**

ब्रह्मसूत्रों का यात्रा–पथ

– मुद्राराक्षस

निर्विवाद रुप से ब्रह्मसूत्र का सीधा रिश्ता उपनिषदों से जोड़ा गया है यानी ब्रह्मसूत्र उसी जमीन पर खड़े होते हैं जिस जमीन को उपनिषदों में चिह्नित किया गया है। कठ, प्रश्न, मुण्डक छांदोग्य, कौशीतकि, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक जैसे उपनिषदों का लेखन ही ब्रह्मसूत्रों की पृष्ठभूमि तैयार करता है। खुद शंकराचार्य के अलावा और भी वेदान्तशास्त्री इस बात को मानते हैं। पर यहाँ एक बात ध्यान में रखना होगी–जहाँ ब्रह्मसूत्र (या अन्य ५ सूत्र ग्रंथ भी) व्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन के प्रयत्न हैं, वही उपनिषद् मिश्रित टिप्पणियाँ अथवा अव्यवस्थित बयानों का संग्रह मात्र हैं। उपनिषदों में उस समय तक विकसित समृद्ध विचार परंपरा से न सीधा टकराव हे, न उसका खण्डन बल्कि अक्सर उपनिषदकार अच्छे चिन्तन के संकेत देने के बाद ब्रह्मण कर्मकाण्ड की अहमियत सिद्ध करने लग जाता है।

उपनिषदों में अक्सर ब्रह्म का जिक्र हुआ है और उसे सारे जगत् के कारण के रुप में भी देखा गया है। उपनिषदों के विचारों की दुनिया से ही निकले कुछ विचारक यह जरुरी समझते हैं कि उन्हें दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में आना होगा। सिर्फ इतने से कम से कम दर्शन की दुनिया में काम नहीं चल पाएगा कि सारे जगत् का कारण ब्रह्म है। लोग तो यह भी मानने को तैयार थे कि ब्रह्म जैसी कोई चीज है भी। गैर–ब्राह्मण तो इतने अजीब थे कि वे इस जगत् की वास्तविकता पर ही संदेह कर रहे थे। वे इस तरह से सवाल भी उठा रहे थे कि किसी चीज को जानने न जानने का मतलब क्या होता है या जानना सचमुच होता क्या है? चेतना क्या होती है, बुद्धि क्या होती है और प्राण क्या होते हैं। आग होती है तो धुआँ होता है यानी आग और धुएँ में शायद (या निश्चित ही) कार्यकारण संबंध होता है। पर कारण या कारण क्या होता है? और कार्यकारण अक्सर एक–दूसरे से अलग क्यों दिखते हैं? धुआँ तो आग जैसा नहीं होता। न आग धुएँ जैसी होती हैं फिर कहीं धुआँ दिखाई दे और आग न दिखाई दे तो भी तो वहाँ आग होगी ही। कोई तभी अस्तित्त्ववान होती है, जब उसका बोध हो या बोध के बिना भी। कोई न देख रहा हो उस समय जगत् का सब कुछ मौजूद होता है या नहीं। वस्तु के कारण वस्तुबुद्धि होती है या वस्तुबुद्धि ही होती है और कुछ नहीं होता या फिर दोनों होते हैं और दोनों का एक–दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व भी होता है? कोई वस्तु होती है और किसी विशेष रुप की होती है तो क्या वे जैसी होती है वैसी ही देखी होती हैं या जैसी देखी जाती हैं वैसी होती हैं?

इन बहसों से कुछ चीजें खारिज भी होती थीं जैसे परमात्मा या ईश्वर अथवा परलोक। कुछ सवाल मृत्यु को लेकर भी पैदा हुएँ लोग देख रहे थे कि सांसरिक वस्तुएँ नष्ट होती हैं या उनमें निरंतर परिवर्तन होता हैं मनुष्य की मृत्यु भी होती है। वस्तुओं की सतत परिवर्तनशीलता अथवा विनाश चिन्तित या दुखी नहीं करता था, पर मनुष्य की मृत्यु भावनात्मक आवेश पैदा करती थी। वह क्यों? फिर मरने पर शरीर वैसा ही दिखता था जैसा मरने के पहले था, पर वह जीवित नहीं था। तब क्या घटता है जो मृत्यु होती है? क्या शरीर में कोई और चीज होती है जो निकल जाती है?

उपनिषदों में इनमें से बहुत–से प्रश्न उठाए जरुर जाते हैं, पर हर सवाल का उत्तर या तो यज्ञ और कर्मकाण्ड पर निर्भरता में सीमित कर दिया जाता है, फिर परमेश्वर या ब्रह्म या ब्राह्मण में देख लिया जाता है।

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त ब्राह्मण समुदाय में

विचारों के विकास का एक और आधार रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि वेद का दसवाँ मण्डल प्राचीन नहीं है, बहुत परवत्री है या उसी में नासदीय सूक्त भी है। ऋग्वेद का यह सूक्त (मंडल १०, सू.१२९, मं.१-७) कहता है-नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासोद्रजो जो व्योमा परेयत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नंभः किमासीत गहनं गभरम्-इत्यादि। इन मंत्रों में कहा गया है-उस समय न सत् था न असत्। आकाश और पृथ्वी भी नहीं थे। आत्मा भी नहीं था न श्वास। जगत् की रचना होने से पहले अँधेरा ही अँधेरा था। कोई कुछ नहीं जानता था। चारों तरफ पानी ही पानी था। वहाँ तपस्या के बल पर एक तत्त्व उपस्थित था। उसे सबसे पहले जगत् की रचना करने की इच्छा हुई। तब बीज प्रकट हुआ-इत्यादि।

यह एक तरह से सृष्टि की उत्पत्ति का वही प्रसंग है जो प्राचीन बाइबल में आया। सृष्टि प्रसंग में प्राचीन बाइबल में कहा गया है-आरंभ में गहरा अँधेरा था और पानी के ऊपर ईश्वर की आत्मा।

उक्त सूक्त में सत्-असत् दोनों की सृष्टिपूर्व अनुपस्थिति बहस का विषय बनी थी। सत् और असत् उपनिषदों में परम सत्ता और वस्तु-जगत् की संज्ञाओं के रुप में देखे गए हैं। यहाँ एक पेंच हैं अगर सत् ही परमात्मा है तो वह अनुपस्थित कैसे माना जा सकता है। शायद इसीलिए विचारकों ने सत्-असत् को प्रकृति और आत्मा से जोड़ दिया होगा और इस तरह तीन चीजें स्वीकार करनी पड़ी होंगी-परमात्मा, आत्मा और प्रकृति। इन तीनों के परस्परिक रिश्ते क्या हैं? कोन कारण है, कौन कार्य है और इन दोनों के बीच आत्मा क्या है, कहाँ रहती है, उसकी भूमिका क्या है?

ब्राह्मण दार्शनिकों के सामने पूर्ववर्ती आर्य समुदाय के बहुत-से विचारकों के काम मौजूद थे और कुछ दूसरे संदर्भों में इनमें से अनेक सवालों के जवाब भी दिए गए थे। पर ब्राह्मण दार्शनिक को सबसे बड़ी प्रेरणा न सही, उत्तेजना दी बौद्ध चिन्तन की विमुक्ति की अवधारणा ने। विमुक्ति के विषय में बहस करते हुए बौद्ध विचारकों ने उसे दो प्रकार की बताया-चित्त विमुक्ति और प्रज्ञा विमुक्ति। चेतना के असंपृक्त हो जाने के बाद जो मुक्तावस्था होती है, उसे चित्तमुक्ति कहा गया। तर्क और ज्ञान के पूर्ण विकास से ज्ञान मुक्ति होती है। इस दूसरी बात में ज्यादा उलझाव था और इसी से जूझते हुए बौद्ध ज्ञान दर्शन का विकास हुआ जो अन्ततः विज्ञानवाद (सब्जेक्टिव आयडियलिज्म) की भूमिका तैयार करता है।

महायानी बौद्धों ने इस बहस को प्रज्ञापारमिता सूत्रों तथा उनकी परवर्ती व्याख्याओं, परिभाषाओं द्वारा बहुत आगे बढ़ाया और उपनिषदों के प्रभाव-क्षेत्र के जो विचार बेहद मासूम से सवाल उठा रहे थे, उन्हें परवर्ती ब्राह्मणों ने इसी बौद्धविचार परंपरा के आतंक के चलते ज्यादा गहराइयों तक ले जाने की कोशिश की।

प्रज्ञा पारमिता सूत्रों में शून्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण या केन्द्रीय अवधारणा है। शून्य को अभाव मानने पर एक दिलचस्प तार्किक विसंगति पैदा होती है। अभाव सिद्ध कैसे होगा? हमें वस्तुओं का हवाला देना होगा कि अमुक-अमुक वस्तुएँ नहीं हैं, उनका अभाव है, पर उन वस्तुओं की अवधारणा कहा से आई? बौद्ध माध्यमिक विचारक इसके उत्तर में कहते हैं कि वस्तु-जगत् का अभाव तो है ही, शून्यता का भी अभाव है यानी शून्य भी अनस्तित्त्ववान है। अठारह शून्यताओं में वे शून्यता-शून्यता का जिक्र करते हैं। इससे भी आगे बढ़कर वे कहते हैं कि बिना अभाव के ाभाव या अस्तित्त्व संभव ही नहीं है। अभाव न हो तो भाव होगा ही नहीं। बौद्ध दार्शनिक आगे चलकर बहुत दिलचस्प वाक्जाल खड़ा करते हैं, जब शुद्ध विज्ञानवाद की जमीन पर खड़े होकर वे कहते हैं- गन्तापि न गच्छत्यगंतापि न गच्दति यानी चलने वाला भी नहीं चलता, न चलने वाला भी नहीं चलता क्योंकि चलना

सिद्ध तब होगा जब कोई न चले रास्ते पर चले। पर वह न चले रास्ते पर कभी नहीं चल सकता क्योंकि जैसे ही वह एक कदम रखेगा, यह कदम चला हुआ हो जाएगा।

उक्त शून्यवाद का विकास बहुत लंबा-चौड़ा है। और इसकी बहस ने परवर्ती ब्राह्मण चिन्तन को काफी बड़ी जमीन दी थी। नागार्जुन ने बड़े स्तर पर शून्यवाद की व्यख्या करने के बाद एक दूसरी दिलचस्प अवधारणा भी दी। शून्यवाद में उन्होंने उत्पत्ति का निशेध किया था, उसी के एक दूसरे पहलू को उन्होंने गति का निषेध करके व्याख्यायित किया इसका एक हल्का प्रारुप हमने ऊपर दिया हैं एक ज्यादा बारीक विवेचन नागार्जुन ने एक और बयान से किया है-कोई भी गतिशील वस्तु प्रत्येक पल किसी न किसी स्थिति में रुकी होती है। इसके बाद नागार्जुन ने इन्द्रियबोध पर सवालिया निशान लगाया हैं पर इससे भी ज्यादा रोचक और दिलचस्प नागार्जुन धातुपरीक्षा प्रकरण है। पत्थर कठोर होता है, पानी तरल होता है और आग गर्म होती है। कठोरता क्या पत्थर ही है? कठोरता पत्थर से अलग एक लक्षण के रुप में जानी जाती है। गर्मी की अवधारणा आग से स्वतंत्र होती है। तरलता और पानी अविच्छिन्न नहीं है। नागार्जुन का कहना है कि लक्ष्य लक्षणरहित है तो लक्षण की उनमें मौजूदगी अर्थहीन हो जाती है। इस तरह वे यह भी सिद्ध करते हैं कि लक्षणों के आधार पर ही वस्तुसत्य स्वीकार होता है, इसलिए वस्तुसत्य स्वयं में कुछ नहीं होता है।

इस बहस की मोटी-सी तुलना बर्कले की अमूर्त विचार-तत्त्वों की स्थापना से की जा सकती हैं या यहाँ बर्टेण्ड रसेल का वह प्रसिद्ध वाक्य भी याद किया जा सकता है जिसमें उन्होंने कहा था- ''शब्दकोश में लगभग सभी सार्वभौम विचारतत्त्व (यूनिवर्सल्स) होते हैं।'' हालाँकि रसेल की उक्त धारणा में बाद में तब्दीली आ गई थी। यहाँ हमारा उद्देश्य बहस की सादृश्यता सिद्ध करना नहीं, इतना संकेत देना-भर है कि बौद्ध दार्शनिक किस दिशा में काम कर रहे थे।

ब्राह्मण विारकों ने तार्किक दार्शनिक काम बहुत देर से शुरू किया ब्राह्मण-चिन्तन की ठोस परंपरा कुमारिल भट्ट और उनके बाद हुए आदि शंकराचार्य से शुरू होती है गोकि दोनों ने ही अपनी विचारभूमि वादरायण (ब्रह्मसूत्र) और शबरस्वामी (भाष्यकार) को बनाया। पर कुमारिल और शंकर में बहुत बुनियादी अंतर है। कुमारिल ने बौद्ध शून्यवाद का विरोध करने के लिए वस्तुजगत् के अस्तित्त्व की स्थापना की तो शंकर ने फिर वस्तु सत्य को भ्रांजित या माया बताकर निराकार सर्वव्यापीब्रह्म की प्रतिष्ठा की। शंकर भी बौद्ध विचारकों के कठोर आलोचक थे, पर कुल मिलाकर उन्होंने शून्यवाद को ही एक अलग रुप दिया। इसीलिए परवर्ती ब्राह्मण विचारकों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा दी। यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि शंकराचार्य की बड़ी बहस ब्राह्मण विचारकों से हुई। खुद मण्डन मिश्र और उसकी पत्नी से शंकर का शास्त्रार्थ एक मिथक ही बन गया था।

बादरायण के धर्मसूत्र की शुरुआत होती है-अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (यानी अब हम ब्रह्म को समझेंगे)से। पर इस चतुस्सूत्री का तीसरा सूत्र बादरायण की ब्राह्मणवादी मजबूरी का भेद खोल देता है- शास्त्रयोनित्वात् (यानी ब्रह्म सिद्ध होता है शास्त्रादि अनेक विद्याओं से) शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्पष्ट कर दिया है कि उसकी सिद्धि ऋग्वेदादि शास्त्र विद्याओं से होती है। बादरायण के इस सूत्र से वह पटरी तय हो जाती है, जिस पर ब्रह्म जिज्ञासा को चलना ही है। यहाँ हम यह दुहरा देना चाहेंगे कि ब्रह्मसूत्र और शारीरिक भाष्य को संयुक्त रुप से ब्राह्मण दर्शनशास्त्र की सर्वोच्च उपलब्धि माना जाता है।

ब्रह्मसूत्र और शारीरिक भाष्य (शंकराचार्य) की चर्चा करने से पहले हम एक बार फिर उस दार्शनिक बहस की याद दिलाना चाहेंगे जो ब्राह्मणेत्तर समुदाय

की कृति थी। वह सारा चिन्तन वेद और कर्मकाण्ड का विरोधी था। ऐसे में ब्राह्मण विचारक के लिए यह स्वाभाविक था कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में वह जो भी काम करे, उसकी यह उपादेयता देख ले कि एक अजनबी या गैर-इलाके में इसके सांस्कृतिक प्रभुत्व को खतरा न पैदा होने पाएँ।

ब्रह्मसूत्रों का सूत्र १३ भी यहाँ देखें। सूत्र ४ का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। सूत्र है-विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्। इस सूत्र का भाष्य करते हुए शंकर ने अन्न और यज्ञ का जिक्र किया है। यास्काचार्य अन्न का अर्थ ब्रह्म करते हैं और इस तरह एक बहुत सीधी-सी बात सामने आती है- अन्न प्राप्त करने का अर्थ है ब्रह्म प्राप्त करना। उम्दा भोजन ही ब्रह्म तक पहुँचाना है। ब्रह्म को प्राप्त करने का उपाय है यज्ञों में पर्याप्त सोना, चाँदी, हीरे-जवाहरात, कपड़े-लत्ते प्राप्त हो जाना।

शंकराचार्य का उक्त सूत्र के भाष्य में बयाने देखें-यथा अन्नमयो यज्ञः इत्यन्नप्रचुर उच्यते एवं आनंद प्रचुरं ब्रह्मानंदमय उच्च्यते। यानी अन्नमय यज्ञ अन्नप्रचुर होता है, खूब अन्न या समृद्धि वहाँ होती है। इसलिए वह आनंद प्रचुर होता है- वहाँ बहुत आनंद होता है, इसीलिए उसे ब्रह्मानंदमय-उस यज्ञ को ब्राह्मणों के सुख की चीज कहते हैं।

ब्राह्मण कर्मकाण्ड की वेद और ब्राह्मण ग्रंथों का अनुसरण करने वाली परंपरा के पक्ष में सूत्र १५ और ज्यादा साफ बात कहता है- यही परंपरा ब्राह्मज्ञान बताती है। शांकरभाष्य में ब्रह्मविदाप्नेतिपरम् दुहराकर शंकर यह बता देते हैं कि परम आत्मा की प्राप्ति ब्रह्मविद् को होती है जबकि ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में ब्रह्मविद् वह कहा गया है जो ब्राह्मण कर्मकाण्ड (मंत्र और यज्ञ के विशेषज्ञ पुरोहित या ब्राह्मण जातीय व्यक्ति का काम)जानता है या उसके महत्त्व को स्वीकार करता है। शंकर इसी सूत्र के भाष्य में एक बात और कहते हैं-मंत्रब्राह्मणयोश्चकार्थत्वं युकतं अविरोधात्। मंत्र और ब्राह्मण (यानी वेद और ब्राह्मण ग्रंथ या फिर वेद और ब्राह्मण पुरोहित?) एक ही अर्थ से जुड़ें हैं, इनमें विरोध नहीं है। लगता है यहाँ शंकर वेद और ब्राह्मण ग्रंथों के अर्थों में एकता की बात कर रहे हैं, पर यह सही नहीं लगता। वेद और ब्राह्मण ग्रंथ तो परस्पर पूरक और एक ही अर्थ के प्रतिपादक रहे ही हैं। इसके पिष्टपेषण की जरुरत ही नहीं थी। निश्चय ही यहाँ शंकर उपनिषदों की बात दुहराना चाहते हैं कि वेद और ब्राह्मण पुरोहित के मन्तव्य एक ही हैं। इस तरह उक्त ब्रह्मसूत्र १५ का स्पष्ट अर्थ होता है-मंत्रवर्ण्री या वेदवर्णी (जिसका रंगरुप वेदवर्णी है) वह ब्राह्मण प्राशंसित होता है। उसी की मान्यता होती है। इसी का यह अर्थ भी होगा कि ब्रह्मा जिज्ञासा को वेद और ब्राह्मण पुजारी से और पुजारी से अलग करके नहीं समझना चाहिए।

सूत्र १६ वेदों की अवधारणा का ही खुलासा करता है-नेतरो अनुपपत्तेः। शंकर ने भाष्य में लिखा है-इतर यानी ईश्वर से भिन्न संसारी जीव उत्पन्न नहीं होते। आगे वे वैदिक साहित्य का ही उद्धरण देते हैं 'सो अकामयत। एको अहं बहुस्याम' यानी उसने इच्छा की कि मैं अकेला बहुत हो जाऊँ। शंकर यह समझाना चाहते हैं कि ब्रह्म ही एक से अनेक हो गया, उससे संसारी जीव उत्पन्न हुए यह समझना भ्रान्ति है। इस तरह वे द्वैत के सिद्धान्त के खण्डन के लिए सूत्र १६ का सहारा लेते हैं।

शंकराचार्य जहाँ बौद्ध और गैरब्राह्मण दर्शन-चिंतन का सामना करते हुए ब्राह्मण पुरोहितों के ब्रह्म या ब्रह्मा या ब्राह्मण को एक बड़ा तार्किक तानाबाना देने की कोशिश करते हैं, पर पुरोहित समुदाय को यह खलता है कि उनके अँधविश्वासी कर्मकाण्ड को छोड़कर विचार या दर्शन संस्कृति की स्थापना की जाए। आनंद तीर्थ और विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि ब्रह्म ही कारण भी है और कार्य भी गोकि इसकी तार्किक विसंगति का उनके पास समुचित उत्तर नहीं होता।

इसके बावजूद वल्लभाचार्य ने स्थापना की कि ब्रह्म स्वयं निराकार है पर वही आकार ग्रहण करके जगत् हो जाता है। इस बात को ही भास्कराचार्य ने सिद्ध किया, पर इस स्थापना में भी अन्तर्विरोध था। ब्रह्म में जब तक कुछ भौतिक पदार्थ न हों, उसका पुनर्निमाण भौतिक जगत् के रुप में कैसे हो सकता है?

इस वैचारिक अन्तर्विरोध को शंकर के परावर्ती रामानुजाचार्य और श्रीकंठ जैसे विचारकों ने दूर करने की कोशिश की। उन्होंने शरीर और शरीरी की अवधारणा विकसित की। उन्होंने कहा–यह जगत् ब्रह्म का शरीर है। इसी में ब्रह्म प्राण की तरह रहता है। इस तरह उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि ब्रह्म का भी परिवर्तन होता है, जब जगत् स्वरुप लेता है।

ब्राह्मण विचारकों के विपरीत उस समय तक बौद्ध दार्शनिकों ने ज्ञानमीमांसा (एपिस्टामॉलजी) में खास विकास कर लिया था। उनकी विख्यात अवधारणा नील और नील बुद्धि इस काम का प्रतीक थी। नील के बिना नील बुद्धि अस्तित्त्ववान होती है या नहीं, नील बुद्धि और नील एक ही होते हैं या अलग, इनमें से एक का या दोनों अस्तित्त्व अलग होता है या एक-दूसरे पर निर्भर, दोनों में निर्भरता का स्वरुप क्या होता है- इस तरह के सवालों से बोद्ध विचारक बुद्धकाल से ही जूझ रहे थे।

इत्तफाक से यह सारी ज्ञानमीमांसा पुरोहित समुदाय के लिए चिन्ता का कारण थी। पुरोहित समुदाय ज्ञानराशि का सबसे ज्यादा विरोधी था क्योंकि ज्ञान तर्क और संदेह को जन्म देता है। तर्क और सन्देह पुरोहित के लिए सबसे बड़ा खतरा थे।

उस समय भी (यानी पुरोहितों के प्रभाव-क्षेत्रा में भी) विचारक की आर्थिक स्थिति भरोसेमंद नहीं थी। वैशेषिक सूत्रों के चिन्तक कणाद फसलें कट जाने के बाद खेतों में गिरे दाने खाकर जीवन बिताते थे। उनका नाम काश्यप था, लेकिन पेट पालने के लिए जो कुछ वे करते थ्ज्ञे, उसके आधार पर उन्हें लोग कणाद कहने लगे थे। कणाद भी एक स्वाधीन दार्शनिक होने के कारण कम साहसी नहीं थे उन्होंने पुरोहिती के तमाम समर्थन के बावजूद कह दिया था-बुद्धिपूर्वावाक्य कृतिर्वेद। इसके ब्राह्मण भाष्यों में पुरोहितों ने बड़ी खींचतान की लेकिन कणाद की बात बहुत साफ है- वेदों की बातें बौद्धिकता से पहले (प्रिरैशनल) की हैं। यानी वेद तर्क और ज्ञान सम्मत बातें नहीं कहते।

पुरोहित अच्छी तरह जानता था कि तर्कसम्मत चिन्तन अर्थलाभ नहीं देता, रोटी चल सकती है पर सोना, हीरे, सम्पत्ति और हजारों गायें सिर्फ यज्ञ, कर्मकाण्ड और अन्धविश्वास के चलते ही प्राप्त हो सकती हैं। इस समुदाय ने अपने सबसे बड़े तार्किक और दार्शनिक को भी चैन से जीने नहीं दिया था। कथा है कि उनकी माँ की मृत्यु पर पुरोहित समुदाय ने दाह-संस्कार से भी इनकार कर दिया था। शेकर सबसे अधिक प्यार अपनी माँ को करते थे। जब कोई पुरोहित उनकी माँ को कंधा देने आगे नहीं आया तो शंकर ने माँ के शरीर के टुकड़े काटे और अकेले ही दाह कर दिया। इस कथा से किंवदन्ती तत्त्व कितना भी निकाल दिया जाय यह सच जरुर बच जाता है कि दर्शन-चिन्तन की तर्क सम्मत परंपरा से खतरे के कारण पुरोहित समुदाय शंकराचार्य से भी कितनी अधिक नफरत करता रहा होगा। शंकर ने चार पीठ स्थापित किए थे। जिस मंडन मिश्र को उन्होंने बहस में हराया था उसे भी उन्होंने एक पीठ में बैठाया था। पीठ आय के साधन वैसे ही होते हैं जैसे मंदिर या यज्ञ। इसलिए शंकर का नाम बाद में जीवित रहा, वरना उनका भी सबकुछ नष्ट कर डाला गया होता।

शंकराचार्य ने बौद्ध विचारकों की तरह ही जिज्ञासा पर जोर दिया, पर पुरोहित समाज ने उनके मनोविज्ञान में जो पेठ बना रखी थी (कहा जा सकता है शंकर की उपचेतना या सब कांशस में जो पुरोहिती ज्ञि।) उसके चलते वे बड़े दार्शनिक होते-होते ब्राह्मण तंत्र के प्रवक्ता बन जाते हैं। इसलिए शंकर ने यह कहा कि

जिज्ञासा आगे बढ़कर बोध बनती है और यह बोध ही ब्रह्मज्ञान होता है यानी जिज्ञासा का अंत ब्रह्म के अस्तित्त्व की स्वीकृति में होता है। शंकर के दर्शन का यही सबसे कमजोर पहलू है। वे एक तरह से ब्रह्म को स्वयंसिद्ध मानते हैं और यही मान्यता तर्क के क्षेत्र में खरी नहीं उतरती। बाइबल या कुरान जैसी धार्मिक पुस्तकों में भी गॉड या खुदा–तर्कातीत है। कुल मिलाकर अपनी सक्षम तार्किकता के बावजूद शंकराचार्य गॉड, खुदा या ड्डश्वर के निर्विवाद होने तक पहुँचते हैं।

बुद्ध ने ईश्वर की बात कभी नहीं कही। स्वयं वे ईश्वर के अस्तित्त्व में विश्वास नहीं करते थे, पर इस सवाल को उन्होंने गैरजरुरी मानकर खारिज किया था, इसे विचार–दर्शन में जगह नहीं दी थी। पर उनके विरुद्ध जो पुरोहित वर्ग था, वह परम सत्ता को सबसे बड़ी मानयता देता था क्योंकि ब्राह्मणों के आदि पुरुष अब्राहम परमसत्ता को मानते थे। ब्राह्मण अब्राहम को आदिपुरुष मानते–मानते ईश्वर से उनको एकाकार करने लग गया और दिलचस्प है कि परम सत्ता के लिए ब्राह्म के पास यह वह से लेकर ईश्वर तक अनक शब्द थे, पर उसने ब्रह्म शब्द ज्यादा पसंद किया ब्रह्मा ब्राह्मा का अब्राहम था। लगभग तीन–सवा–तीन हजार बरस पहले भारत आए ब्राह्तमण की सबसे बड़ी धरोहर लगभग चार हजार बरस पहले अब्राहम ही थे। उसके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह अब्राहम को ही सब कुछ मानता चले। शंकराचार्य भी इसी के चलते जिज्ञासा की परिणति को ब्रह्मज्ञान बता डालते हैं।

शंकर के बाद आए ब्राह्मण विचारक इस बात को बहुत उत्साह से कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रों का मुख्य कथ्य ज्ञानमीमांसा (एपिस्टेमॅलजी से भिन्न) नहीं, वेदानुकूल ब्रह्म को समझना है। ब्रह्मसूत्र (२.३.९) कहता है–असंभवस्तु सतो अनुपपतेः यानी अभाव से या अनुपस्थित से प्रत्यक्ष जगत् की उत्पत्ति नहीं हो कसती। सूत्र (२.३.१७) है–नात्माश्रुते नित्यत्वाच्च ताभ्यः यानी आत्मा उत्पन्न नहीं होती, वह नित्य है। सूत्र (२.३.१६) कहता है–चराचरव्यापाश्रयाधिकरणम् यानी चर–अचर वहाँ स्थित होते हैं। इन सूत्रों के वेदान्तभाश्य दिलचस्प हैं। जहाँ शंकराचार्य सिद्ध करते हैं कि जगत् व्यापार आभाव मात्र है वहीं बाद के वेदान्ती इन्हीं सूत्रों के सहारे आत्मा और परमात्मा का भेद सिद्ध कर देते हैं, पर यह भी कहते हैं कि जीव या आत्मा परमात्मा की कृति है।

शंकर अपने अद्वैत सिद्धांत में एक दिलचस्प उदाहरण देते हैं–देवदत्त मर गया यह कहा जाय तो हमें यह सिफ्र इतना मालूम होना चाहिए कि देवदत्त नाम की संज्ञा मात्र समाप्त हुई है। सूत्र २.३.१८ तो अत एव को उद्धृत करते हुए शंकराचार्य कहना चाहते हैं कि ज्ञान तो जीव का स्वभाव ही होता है। यह बात परवर्ती आनंदतीर्थ थोड़ा बेहतर ढंग से कहते हैं कि ज्ञान की निचली परत जीव होता है। हालाँकि यह विवेचना ही सारे अद्वैत आन्दोलन को तर्क से बाहर भक्ति और आस्था तक पहुँचा देती हैं जीव शब्द का प्रयोग अद्वैत आन्दोलन को तर्क से बाहर भक्ति और आस्था तक पहुँचा देती है। जीव शब्द का प्रयोग अद्वैत वेदान्तियों की दर्शनशास्त्र संबंधी सबसे बड़ी कमजोरी साबित होता है जबकि बौद्धों के साथ यह नहीं हुआ था। जीव शब्द के कारण वस्तुबोध या वास्तुज्ञान की बारीकियों तक पहुँच पाना कठिन हो जाता हैं इसी जीव की अवधारणा से बाहर न निकलने के कारण शंकर अद्वैत घटाकाश, मठाकाश और महदाकाश की दार्शनिक कविता का ईजाद करता हैं यानी एक महदाकाश होता है (ब्रह्म) जिसमें मठाकाश होता है, घटाकाश भी। घड़े में जो आकाश है वह मठ के आकाश का ही हिस्सा होता है, पर घड़े जैसा होता है। घट सहित मठ महदाकाश के अंदर ही होता हे गोकि वह आकाश मठ जैसा होता है। यह काव्य बिम्ब (इमेज) निश्चय ही यह बता देती है कि चाहे जीव हो या जगत् सब ब्रह्म का ही रुप है, पर एक तरह की ऐसी त्रिसत्तात्मक (थ्री फैक्टर थिअरी) निर्मिति

तैयार करता है जो बड़ी आसानी से ईश्वर या देवभक्ति में बदल जाती हैं

दरअसल शंकराचार्य की दौड़ में इसलिए तब्दील हो गई कि ब्राह्मण पुरोहित वे लाभार्थ लिखी किताब ब्रह्मसूत्र को उन्होंने अपना आधार बना लिया। उपनिषदों ने यज्ञों को कच्ची नाव कहा था, पर उसी यज्ञतंत्र की प्रतिष्ठा के लिए लिखी किताब ब्रह्म सूत्र खुद शंकर के लिए कच्ची नाव साबित होती है। ब्रह्मसूत्र (२.३.१५) की व्याख्या में रामानुजाचार्य और विज्ञान ाक्षु ने कहरी रुचि दिखाई। यह सूत्र है- अन्तराविाानाधिकरणम्। इसकी व्याख्या करते हुए अपने अर्थ के प्रतिपादन में शंकराचार्य प्रसिद्ध उपनिषद् वचन उद्धृत करते हैं- बुद्धि को सारथी जानो, लगाम मन होता हे, इन्द्रियाँ रथ होती हैं। यहाँ अद्वैत का आभास जरुर होता है, पर अन्ततः यह सूत्र उसी त्रिसत्तात्मक निर्मित तक (थ्री फैक्टर थियरी से एपिस्टेमॉलजी के अर्थ में तुलना हमारा उद्देश्य यहाँ नहीं है) पहुँचाता है जहाँ तर्क खारिज होता हैं और भक्ति परंपरा शुरु होती हैं ब्रह्मसूत्र स्मर्यते च (४.२.१४) का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने जो लिखा वह इसी भक्ति-क्षेत्र या भक्ति-परिसर में दर्शन को बनाए रखने की स्पष्ट कोशिश है-सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्ट देश प्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति द्रष्टव्यं यानी यही शरीर योगल से बेहद खास देश पाने के लिए शरीर त्याग में देखना चाहिए यह एक तरह से उस स्थिति का समर्थन है जिसमें योग द्वारा जीते जी ब्रह्मलीन हो जाने का कर्मकाण्ड सम्पन्न होता हैं भक्ति मार्ग इसी मे ंबारीक-सा-परिवर्तन करके स्वीकार कर लेता है। वह योगबल के स्थान पर भक्ति शब्द जोड़ देता हैं

ब्रह्मसूत्र का सबसे कमजोर पक्ष है उसका काव्यात्मक अवधारणाओं में अंत। ब्रह्मसूत्र ज्ञानमीमांसा का रास्ता सूत्र ४.४.२० तक आते-आते पूरी तरह छोड़ देते हैं। जिसे देखने को, प्रत्यक्ष और अनुमान के तर्क को, बौद्ध विचारक ज्ञानमीमांसा की गहराइयों में ले जाते हैं उसे ब्रह्मसूत्र कविता में ला खड़ा करते हैं- शंकर की साक्षी लें तो उन्होंने बाकायदा ४.४.२० के अपने भाष्य में औपनिषदिक उद्धरण दे डाला है-न तत्र सूर्योभाति न चंद्रचारकं नमा विद्युतो भाति कुतो अयं अग्निः यानी न सूरज चमक रहा है न वहाँ चन्द्रमा और तारे हैं न विद्युत कोंध रही है फिर यह आग आखिर है क्या?

सिंधु लिपि अब पढ ली गई है

मा.पु.श्री.सदार, B.Sc., L.L.B., C.A.I.I.B, आयु ८२ वर्ष, निवृत्त अधिकारी, भारतीय रिझर्व्ह बैंक, निवास-७१ कोतवाल नगर, नागपूर-४४००२२, मो. ९७६३७९५६०२, ने दावा किया है कि उन्होंने सिंधु लिपि जो आजतक अज्ञात थी, उसे पढ़ लिया है। यह सिंधु लिपि की मुद्राऐं या टिकिया (seals) सर जॉन मॉर्शल के १९३९ के त्रिखंडात्मक ग्रंथ में प्रकाशित हुई है। मा. सदार जी का दावा है कि उन्होंने इन टिकियों को पढ़कर उनकी भाषा 'मरहटी' भी पहचान ली है तथा इस लिपि की पूरी वर्णमाला बनाकर उसमें चार किताबेंः अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी और तीन भाषाओं में एकत्र प्रकाशित भी की है।

पाठकों की जानकारी के लिय यहाँ हम बता रहे हैं कि सुप्रसिद्ध सिंधु लिपि विशेषज्ञ एवं प्रथम लिपिवाचक मा. पु.श्री.सदार ने चुनौती दी थी कि जो कोई उनकी इस खोज को अमान्य करते है वे १७ सितम्बर २०१४ तक अपना दावा सिद्ध करें। दावा सिद्ध होने पर प्रस्तुतकर्ता को एक लाख रु. का नगद इनाम दिया जायेगा। लेकिन कोई भी दावा पेश नहीं हुआ।

संपादक

आर्यों के पहले तुर्की के मूलनिवासी कौन थे? (काल ई.पू.६०००)

–पु.श्री.सदार
सिंधु लिपि के प्रथम वाचक
मो. ९७६३७९५६०२

तुर्की में 'हिटाइट' नाम से पहुंचने वाले आर्य उनकी कास्पियन समुद्र से स्थलांतर करने वाली चौथी शाखा थी। अन्य तीन थे, क्रम सेः (१) भारत में उतरने वाली शाखा, (२) इरान में उतरने वाली शाखा, (३) ग्रीस देश में पहुंचने वाली शाखा। इनका स्थलांतर का समय था, अनुक्रम से ई.पू. ३३००, ई.पू. ३२००, ई.पू. २००० और ई.पू. १९२५ (हिटाईट और मिट्टाणी शाखा)

तुर्की का एक दशमांस हिस्सा युरोप में तथा बाकी हिस्सा एशिया में पड़ता है। यह देश आठ देशों से घिरा हुआ है। वे हैं : बल्गेरिया, ग्रीस जॉर्जिया, आर्मेनिया, ईरान, अझरबझान, इराक, सिरिया। समुद्र की दृष्टी से तुर्की घिरा हुआ है : भूमध्य समुद्र का हिस्सा, समुद्र मारमारा और इजियन समुद्र से तथा काले समुद्र के हिस्से बॉस्पोरस और डार्डनिलिस समुद्र से। तुर्की का अधिकृत नाम 'टर्की' है।

यह देश पूरापाषाण काल से (Palaeolithic) बसा हुआ होने से तथा आर्यों का स्थलांतर उनकी मूलभूमि से (कास्पियन समुद्र से) ई.पू०. १९२५ के समय में मात्र होने से इस देश के प्राचीनतम मानववंश की पहचान करने की इच्छा हुई। उसको पूरा करने का मौका तब मिला जब हमने हमारी नातिन 'कुशल' (Town planning officer) के साथ तुर्की का दौरा करने का निर्णय लिया। इसके पहले हमने भूमध्य समुद्र में स्थित 'क्रिट द्वीप' (ग्रीस का) की प्राचीनतम (ग्रीकपूर्व काल) लिपि सिंधु व्यापारियों की ही थी इस मुद्दे पर आलेख लिखकर इसी पत्रिका में (मार्च, अप्रैल, मई के अंक में) तथा इन्टरनेट के ब्लॉग स्पॉट के साईट पर प्रकाशित किया था। इसी कारण से हमने तुर्की के उत्तर में स्थित प्राचीनतम व आधुनिक ऐतिहासिक शहर इस्तंबूल से प्रवास शुरू करके 'हेलन का ट्रॉय', गालीपोली की युद्धभूमी, परगामन (ग्रीक, रोमन का किला), इफिसस (ग्रीक और रोमनों का अतिविशाल संगमरमर के महलों का शहर), और अंत में उसके पास का चिमनी (Chimney) के पहाड़ों से घिरा हुआ शहर 'कॅपोडोशिया' देखा।

तुर्की का अध्ययन पुरातत्व के दृष्टी से तो महत्व का है ही परंतु एक ऐसा देश की जिसका आधा युरोप और आधा एशिया जैसे प्रदेश पर साम्राज्य था (आटोमन साम्राज्य १३वीं सदी) और जो देश ग्रीक (अलेक्झांडर), रोमन, मंगोल और पर्सियन (अचिमेनिद Achaemenid) राजाओं से रौंदता रहा है उसका आधुनिक विकसित देश में रुपांतरन कैसे हुआ यह देखना भी महत्वपूर्ण हैं। इसलिए थोड़ी देर के लिए पुरातत्विक चर्चा बाजू में रख कर हम तुर्की की वर्तमान छबी देखे।

मुझे इस देश के बारे में तीन चार बातें बहुत महत्वपूर्ण लगी। एक है वहाँ के रास्ते। सभी रास्ते ४ह्न४ इंच के पत्थरों को बिछाकर बनाए गए है। इसलिए उनकी मरम्मत बहुत आसान होती है। रास्ते बनाने में सिमेंट और कोलटार (डांबर) जैसी कीमती पदार्थों का उपयोग किया नहीं है। फिर भी रास्ते एकदम खड्डारहित हैं। सभी शहरों को जोड़ने वाले रास्ते चार लेन के और किनारों पर धातु के मजबूत रेलिंगवाले है। गाँव के, शहर के और बाहरी रास्ते एकदम कचरा रहित होते है। मकानों के बाहर रास्तेपर कहीं भी मिट्टी या कचरा नहीं दिखता। सभी रास्ते रात

को ३ से ४ के बीच मशीन से या हाथों से एक घंटे में रोज साफ होते हैं।

दूसरी बात जो लक्षणीय है वह है वहां के टुरिझम से संबंधित सभी व्यक्तियों की १००% समय की पाबंदी। हर हॉटेलवाला हररोज समय पर नास्ता, दुपहर का भोजन, रात का भोजन वक्त पर सजा कर रखता है। हमें हर शहर में नया हॉटेल, नया ड्रायव्हर, नया गाईड मिला था (कुल ९); परंतु किसी ने भी समय की सीमा नहीं तोडी या कर्तव्य में आनाकानी नहीं की। सभी के चेहरे पर बडे शालीन भाव दिखते थे। इसलिए तो सन २०१४ में तुर्की के राष्ट्रीय उत्पन्न में टुरिझम तथा अन्य सर्व्हिसों का ६५% हिस्सा है। कारखानों का २०% और अग्रिकल्चर का १५% हिस्सा है। टुरिझम के अलावा तुर्की की विमान सेवा भी दुनिया में अव्वल है। सरकारी मालकियत की यह कंपनी रोज १२० देशों को १ या २ डायरेक्ट फ्लाईट भेजती हे। इस्तंबुल विमानतल पर २०० विमान खड़े रह सकते है। ५०० विमानों के लिए एक नया विमानतल वे बना रहे हैं। विमान सेवा टुरिझम का हिस्सा है। तुर्की विमान सेवा समयबद्धता, नास्ता, पेय पदार्थ और हवाई सुंदरियों के दृष्टी से विलोभनिय है।

व्यापार

सन २०१२ में तुर्की का निर्यात १६३ बि. डॉलर का तथा आयात २२९ बि. डॉलर का था। सन २०१२ में तुर्की ने १०००,००० (एक मि.) कारें बनाई थी। जहाज निर्माण से तुर्की ने २०१२ में १०२ बि. डॉलर कमाए। जहाज निर्मिती के लिए जो शिपयार्ड लगते है उनमें ६० कार्यशील है तथा ५६ शिपयार्ड नए बना रहे है। इस की तुलना में भारत के शिपयार्डों की संख्या काफी कम हैं फिर भी भारत का जहाजों का बेडा ८७२ जहाजों का है। तुर्की का सकल घरेलु उत्पादन (GDP) सन २०१३ में १.४२६ ट्रीलियन डॉलर था और व्यक्ति का उत्पन्न १९,०८० डॉलर प्रतिवर्ष था।

तुर्की के सकल उत्पादन में (सन २०१४) कारखानदारी का हिस्सा २०%, खेती का १५% और सर्व्हिस सेक्टर (विविध सेवाएं) का ६५% हिस्सा है। इसलिए वहां किसान भी सुखी है। कोई भिखारी नहीं है। सभी लोग पक्के और सुंदर मकानों में रहते है। झोपडी नाम की कोई चीज वहां नहीं दिखी। हालांकी वहां भी विषमता तो है कारण उपरके २०% लोग राष्ट्रीय उत्पन्न का ४६% हिस्सा लेते है तो नीचे के २०% लोग केवल ६% राष्ट्रीय उत्पन्न प्राप्त करते है। तुर्की में बेरोजगारी केवल १०% है। वह युरोप में सबसे कम है। हमारे यहां ३०% लोग बेकार है।

कपास, गेंहू, चावल, ओट, शक्करकंद, तमाखू, मोसंबी, सफरचंद, जरडाळू, आलुबुखार, ऑलीव्ह, अक्रोड, बदाम, पिस्ता इत्यादी फसलों की पैदावार होती है। तुर्की में ३०-४० साल पहले ६०% लोग खेती पर निर्भर थे परंतु अब वह प्रमाण काफी घटा है।

भाषा : तुर्की भाषा उलर-अल्ताईक भाषा समुह की भाषा है।

लिपि : तुर्की भाषा की लिपि सेमिटिक लिपि से बनी है; अर्थात सिंधू लिपि से ही बनी है। कमाल पाशा (अतातुर्क) ने सन १९२८ में रोमन लिपि में थोडा बदल करके उसी को प्रयोग में लाया है। उससे तुर्को का युरोप के साथ अपनापन दिखता है।

तुर्की शब्द	**मराठी अर्थ**	**हिंदी अर्थ**
आदाम	माणूस	मनुष्य
एव	घर	घर
बेन,बिझ	मी,आम्ही	मैं,हम
सेन,सिझ	तू,तुम्ही	तू, तुम
ओ,ओल,ओलनार	तो,ती,ते	ओ,वह,वे
बेनिम किताब	माझे पुस्तक	मेरी किताब
सेनिन/सिझीन आत	तुझा/तुमचा घोडा	तेरा/तुम्हारा घोडा
किम,ने,हांगी,नखल	कोण,काय,कोणता,क्या	कौन,क्या,कौनसा,कैसे

टिपणीः तुर्की लिपि की जननी सिमेटिक लिपि (इराक के अक्कडी प्रदेश तथा बॅबिलोनिया प्रदेश की

ई.पू.३००० की लिपि) में सिंधु लिपि का वर्ण 'अ' का चिन्ह '।' यह जैसा का वैसा है. वह तुर्की में भी उसी उच्चार के लिए है. हिंदी में उसका प्रयोग पूर्णविराम के लिए होता है।

कुछ आधुनिक इतिहासकार, युरोपिय और भारतीय, यह बात छुपाने का प्रयास करते हैं कि तुर्किस्तान (तुर्की) में मानव बस्ती ई.पू.६००० साल से है। वे कहते है कि ई.पू. १८५०-१२०० के दरम्यान तुर्की में हिराईट लोगों का साम्राज्य था; परंतु उसके पहले वहां कौन लोग (माने मूलनिवासी) बसे हुयें थे यह बात वे नहीं बताते (देखे पृ. ४०४ मराठी विश्वकोष-महाराष्ट्र शासन, खंड७)। इस संबंध में विकीपीडिया फ्री एन्सायक्लोपिडीया कहता है कि तुर्की में इतिहासपूर्व काल में अनातोलिया और थ्रेसिया नाम के साम्राज्य थे। थ्रेसिया तुर्की के युरोपीय हिस्से का नाम था और अनातोलिया वर्तमान तुर्की के एशियाई हिस्से का नाम था। वह दुनिया की सबसे पुरानी मानवी बस्ती है (भारत को छोड़कर)। थ्रेसिया की मानव बस्ती को तो वह ६००० ई.पू. की बताता है। **वह यह बात भी कबूल करता है कि हिटाईट लोगों के साथ यहां पर गैर इण्डो-युरोपियन लोग भी रहते थे। वहीं लोग तो भारत की सिंधु संस्कृती के पूरे विश्व में फैले हुए लोग थे।** क्रिट द्वीप पर मिली ग्रीस पूर्व लिपि के लेखों से पता चलता है की वहां के व्यापारी सिंधु लिपि के समान लिपि का उपयोग करते थे। उसी से किंग मिनॉस के समय के बाद ग्रीक लोगों ने उनकी प्राचीन लिपि बनाई थी। वही बात तुर्की के इलाके को भी लागू होती है। परंतु यहां पर अभी उतने प्राचीन खप्पड लेख या अन्य माध्यम के लेख नहीं मिले है। प्रस्तुत लेखक क्रिट के लेखों को पढ़ने में अंशतः सफल हुए है। विकिपीडिया एन्सायक्लोपीडिया यह भी कहता है **कि ईसा का समय शुरु होने के दरमियान तुर्की के मूलनिवासी लोगों की भाषा और संस्कृति नष्ट होकर उसकी जगह ग्रीक भाषा व संस्कृति ने ली थी।** यह बात भारत में आर्यो के आनेपर होना असंभव थी क्योंकि सिंधु संस्कृति पूरे भारतीय महाद्वीप में फैली हुई थी और जनसंख्या की बात करे तो आर्यों की संख्या कपास के ढेर में तिनके के बराबर थी। इसलिए तो सिंधु लिपि, सभ्यता और नगर रचना १०,००० साल का प्रवास करने के बाद भी जिंदा रही, भारत में।

इस संबंध में लेखक भगवत शरण उपाध्याय उनकी किताब 'पुरातत्त्व का रोमांस' (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) में कहते है कि, ''कुछ आश्चर्य नहीं जो उनकी बनावट में (क्रिट-इजियन-मायसिनी सभ्यता के बर्तनों के) भारत की सिंधु सभ्यता का भी कुछ हाथ रहा हो।''

हमारा कहना है कि, सिंधु सभ्यता की ओर से सुमेरिया (इराक), बॅबिलोनिया (इराक), ॲसेरिया, इजिप्त और क्रिट-इजियन-मायसिनी सभ्यताओं को उपरोक्त सिंधु सभ्यता की देन ५०% से ९०% तक भी हो सकती है।

पूना पैक्ट

–डा. बाबासाहेब अम्बेडकर

पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर हो जाने के पश्चात निर्वाचनक्षेत्र निर्धारित करने के लिए हेमंड समिति नियुक्त की गई। उसका काम नए संविधान के अनुसार विधानसभाओं के लिए मतदान की व्यवस्था करना और निश्चित सीटों के लिए निर्वाचनक्षेत्रों का निर्धारण करना था।

हेमंड समिति को पूना पैक्ट की शर्तों को ध्यान में रखते हुए कार्य करना था और चुनाव योजना में अस्पृश्यों की आवश्यकताओं को पूरा करना था। दुर्भाग्यवश पूना पैक्ट हड़बड़ी में तैयार हुआ था, इसलिए बहुत सी बातें परिभाषित नहीं हो पाई। जो बातें अपरिभाषित रह गई थीं, उनमें से दो बहुत महत्वपूर्ण थीं : (१) प्राथमिक चुनावों में कम से कम कितने सदस्यों का पैनल हो अथवा इससे कम का नहीं? (२)अंतिम चुनाव में मतदान का क्या सिद्धांत निर्धारित किया जाए? हिंदुओं की ओर से इस बात पर संतोष व्यक्त किया गया कि न्यूनतम चार का पैनल बने। यदि चार उम्मीदवार मैदान में नहीं आते, तो प्राथमिक चुनाव वैध नहीं होगा और इस प्रकार सुरक्षित सीट पर चुनाव नहीं हो सकता। इसके विषय में उन्होंने कहा कि ऐसे स्थानों को खाली पड़ा रहने दिया जाए और अस्पृश्याकें का प्रतिनिधित्व न रहे। अस्पृश्यों की ओर से उस विवादग्रस्त मुद्दे की व्याख्या करने के लिए मुझे बुलाया गया। मैंने कहा कि पूना पैक्ट में चार का अर्थ है अधिकतम चार, न कि न्यूनतम चार। मतदान के प्रश्न पर हिंदुओं ने कहा कि अनिवार्य विभाजक मत का सिद्धांत उपयुक्त है। अस्पृश्यों की ओर से मैंने कहा कि मतें की एकत्रित व्यवस्था ही समुचित व्यवस्था रहेगी। सौभाग्यवश हेमंड समिति ने मेरे विचारों को स्वीकार कर लिया और हिंदुओं के तर्कों को रद्द कर दिया। यह दिलचस्प बात है कि सवर्ण हिंदुओं ने इस विषय में यह तर्क क्यों प्रस्तुत किया था? जरा सा ध्यान देने पर पता चल जाएगा। प्रश्न उठता है कि हिंदुओं ने हेमंड समिति के समक्ष यह खास विचार क्यों रखा? उस तर्क के पीछे उनका असल इरादा क्या था? मेरे विचार से हिंदुओं का इरादा था कि वैध प्राथमिक चुनाव में अस्पृश्यों के कम से कम चार उम्मीदवारों के सिद्धांत की मांग स्वीकार होने पर सवर्ण हिंदू आरक्षित सीटों पर ऐसे अस्पृश्य उम्मीदवार का कब्जा करा सकते थे, जो उनकी पसंद का हो और उनकी कठपुतली बन जाए। अंतिम चुनाव में ऐसे अस्पृश्य के चुने जाने के लिए उसे पैनल में आना आवश्यक था और वह पैनल में तभी आ सकता था, जब पैनल बड़ा हो। क्योंकि केवल अस्पृश्य मतदाताओं के पृथक निर्वाचन द्वारा पैनल का चुनाव बन सकता था। यह स्पष्ट है कि यदि पैनल में एक ही उम्मीदवार हो, तब वह अस्पृश्य का बहुत ही तगड़ा उम्मीदवार होगा और हिंदुओं की दृष्टि से बहुत ही खराब। यदि वहां पर दो उम्मीदवार होंगे, तो दूसरा पहले की अपेक्षा कुछ कम प्रभावशाली होगा। तीन होने पर तीसरा पहले और दूसरे से भी हिंदुओं की दृष्टि में ढीला होगा। चार होंगे, तो चौथा हिंदुओं के हिसाब से ऊपर वाले तीनों से गया बीता होगा। इस प्रकार यदि चार का पैनल होगा तो हिन्दु उसमें अस्पृश्यों का ऐसा प्रतिनिधि शामिल करा सकेंगे जो उन्हें सर्वाधिक उपयुक्त होगा। यही कारण था कि हिंदुओं ने हेमंड समिति के सामने न्यूनतम चार वैध उम्मीदवारों का पैनल बनाने के सिद्धांत पर अधिक जोर दिया।

इस प्रकार अनिवार्य मत विभाजक व्यवस्था पर हिंदुओं द्वारा अधिक जोर देने का उद्देश्य यही था कि अस्पृश्यों की सुरक्षित सीटों पर सवर्ण हिंदुओं का कब्जा हो जाए। एकत्रित मत व्यवस्था के अंतर्गत निर्वाचक के उतने ही मत हो सकते हैं, जितनी संख्या

में सीटें हों। वह सभी मत एक उम्मीदवार को भी दे सकता है अथवा अपनी इच्छानुसार दो या दो से अधिक उम्मीदवारों में विभाजित कर सकता है। मत विभाजक व्यवस्था के अनुसार भी निर्वाचक (मतदाता) के उतने ही मत हो सकते हैं, जितनी सीटें हो, परंतु वह किसी एक उम्मीदवार को केवल एक ही वोट दे सकता है। यद्यपि दोनों व्यवस्थाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है, क्योंकि एकत्रित मत व्यवस्था में भी मतदात को अपने मत विभाजित करने से नहीं रोका जा सकता। वह एक उम्मीदवार को ही मत देने के लिए स्वतंत्र है। परंतु सवर्ण हिंदू कोई अवसर नहीं खोना चाहते थे। उनका मुख्य ध्येय था, संयुक्त निर्वाचन में अस्पृश्यों के लिए सुरक्षित सीटों पर उम्मीदवारों की झड़ी लगा दें, ताकि चुनाव द्वारा अपने कठपुतली अस्पृश्य उम्मीदवार के पक्ष में हिंदुओं के अधिक फालतू मतों द्वारा उन सीटों को हड़पा जा सके। उसका उद्देश्य था अस्पृश्यों के मतों से ज्यादा मत जुटाना या जिसको उनकी पसंद का उम्मीदवार न जीत पाए। ऐसा तभी हो सकता था, जबकि हिंदू अपने फालतू मतों को सामान्य अभ्यर्थी से हटा कर प्रत्यक्ष अभ्यर्थी को दिला दें। इस विभाजक व्यवस्था के अंतर्गत फालतू मतों की दिशा मोड़ना एकत्रित मत व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक संभव होगा। मत विभाजक व्यवस्था में हिंदू मतदाता हिंदू अभ्यर्थी को केवल एक वोट दे सकता है। दूसरा वोट जो हिंदू अभ्यर्थी के लिए उपयुक्त नहीं, केवल अस्पृश्य अभ्यर्थी के लिए होगा। इस प्रकार मत विभाजन मत व्यवस्था में अस्पृश्यों के लिए सुरक्षित सीटों में उम्मीदवारों की भरमार की संभावना है और यही कारण है कि हिंदू एकत्रित मत व्यवस्था की अपेक्षा उसे ही पसंद करते हैं। परंतु वे उस व्यवस्था को छोड़ना नहीं चाहते, क्योंकि उनके विचार से मत विभाजक व्यवस्था भी गलत साबित होगी। मत विभाजक व्यवस्था के अंतर्गत मतदाता को अपने सभी मतों को प्रयोग करना जरुरी नहीं है। वह सवर्ण हिंदू को एक वोट दे सकता है और शेष मतों को प्रयोग न करने की उसे पूरी छूट है। यदि ऐसा ही होता, तो नामजद अस्पृश्य अभ्यर्थी को उन्हें जिताने की गुंजाइश नहीं रहेगी। इस अवसर को न छोड़ने के लिए ही सवर्ण हिंदू मत विभाजक व्यवस्था को इसलिए आवश्यक बनाना चाहते हैं, ताकि सवर्ण हिंदू मतदाता चाहते या न चाहते हुए भी अपना एक वोट अस्पृश्य अभ्यर्थी को दें, जो उनका नामजद किया हुआ हो और इस प्रकार उसे जिताने में उन्हें अवश्य सफलता मिलेगी।

इन बातों के संदर्भ में पूना पैक्ट अस्पृश्यों पर न केवल पहली चोट सिद्ध हुआ और वे हिंदू जो उसे पसंद नहीं करते थे, एक और वार करने पर आमादा थे। उन्होंने सवर्ण हिंदुओं द्वारा रच गए षड्यंत्र का पक्का सबूत मिल जाता है कि उनका उद्देश्य यदि पूना पैक्ट को अस्वीकार करना नहीं, तो अस्पृश्यों को उससे कोई लाभ न होने देने का था। अस्पृश्यों की राजनीतिक मांगों को कांग्रेस ने किस प्रकार विफल किया, यह कहानी यही समाप्त नहीं हो जाती। जो कुछ पहले लिखा जा चुका है, आगे लिखे जाने वाले भागों में उससे भी अधिक प्रकाश पड़ेगा।

हम उस चुनाव से संबंधीत कहानी को जारी रखते हैं। भारत सरकार अधिनियम १९३५ के अनुसार प्रांतीय विधान सभाओं के लिए फरवरी १९३७ में जो चुनाव हुए थे, वह कांग्रेस के लिए चुनावों में उतरने का अवसर था। यह अस्पृश्यों के लिए भी पहला अवसर था, जब उन्हें अपने प्रतिनिधि चुनने की सुविधा मिली थी, जैसा कि स्व.दीवान बहादुर एम.सी.राजा ने बड़ी खुशी से आशा की थी कि अछूतों के लिए निर्धारित सीटों पर कांग्रेस कोई व्यवधान नही डालेगी। परंतु इन आशाओं की धज्जियां उड़ गई। अस्पृश्यों के लिए आरक्षित स्थानों पर कांग्रेस के भाग लेने के पीछे उनके दो मकसद थे, पहला यह कि अपना बहुमत बनाने के लिए उन सुरक्षित सीटों को प्राप्त करना

जिससे कांग्रेस सरकार बना सके। दूसरा श्री गांधी के इस कथन को साबित करना कि कांग्रेस अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व करती है और अस्पृश्य कांग्रेस में विश्वास करते हैं। इसलिए कांग्रेस पूरी भूमिका निभाने में तनिक भी नहीं हिचकिचाई। मैं तो यह कह सकता हूं कि उसने अस्पृश्यों के अहित की इच्छा से अस्पृश्यों के चुनाव में कांग्रेस टिकट पर अस्पृश्य अभ्यर्थी को खड़ा किया और उन सीटों पर, जो अस्पृश्यों के लिए सुरक्षित थीं, वित्तीय थैलियों के बल पर कांग्रेस ने अच्छा खासा लाभ कमाया।

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट १९३५ के अंतर्गत अस्पृश्यों को १५१ सीटें सुरक्षित थी। निम्न तालिका से स्पष्ट है कि कांग्रेस टिकट पर जो अस्पृश्य अभ्यर्थी थे, उन्हें कितनी अधिक सीटें प्राप्त हुई–

तालिका

प्रांत	अस्पृश्यों के लिए सुरक्षित कुल सीटों की संख्या	कांग्रेस ने कुल कितनी सीटें प्राप्त की
संयुक्त प्रांत	२०	१६
मद्रास	३०	२६
बंगाल	३०	०६
मध्य प्रांत	२०	०७
बम्बई	१५	०४
बिहार	१५	११
पंजाब	०८	००
असम	०७	०४
उड़ीसा	०६	०४
	१५१	७८

इससे स्पष्ट है कि अस्पृश्यों के लिए कुल सुरक्षित सीटों की लगभग ५१ प्रतिशत सीटें कांग्रेस ने ले ली। कांग्रेस ने ७८ सीटें प्राप्त कर केवल ७३ सीटें अस्पृश्यों के सही और स्वतंत्र प्रतिनिधीयों के लिए छोड़ी। कम्युनल अवार्ड में उन अस्पृश्यों ने, जो कुछ प्राप्त किया था, पूना पैक्ट में बहुत कुछ गंदा किया। प्रभावकारी प्रतिनिधित्व की दृष्टि से कॅम्युनल अवार्ड की अपेक्षा बहुत कम लाभ हुआ जबकि कांग्रेस को पूना पैक्ट से बहुत लाभ हुआ। यद्यपि पूना पैक्ट में दलितों को १५१ सीटें दी गई थी परंतु ७८ कांग्रेस डकार गई जिससे कांग्रेस को अच्छा खासा लाभ हुआ। यह हानि १८३७ के चुनाव ने अस्पृश्यों को पहुंचाई। यह कांग्रेस का अस्पृश्यों के मुंह पर दूसरा सबसे जोरदार और करारा तमाचा था। इससे उन्हें कार्यपालिका में स्थान पाने से वंचित कर दिया गया।

मैं आरंभ से ही गोलमेज सम्मेलन में बहस के दौरान इस बात पर बल देता रहा हूँ कि **अस्पृश्यों को केवल व्यवस्थापिकाओं में ही अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार न मिले, अपितु उन्हें मंत्रिमंडल में भी प्रतिनिधित्व का अधिकार मिले।** अस्पृश्यों की परेशानी केवल कानूनों के कारण ही नहीं, वरन शासन में अस्पृश्यों के विरुद्ध प्राचीन काल से चले आ रहे पूर्वाग्रह के कारण भी है। जब तक सार्वजनिक सेवाओं में हिंदुओं का प्रभुत्व रहेगा तब तक अस्पृश्य लोग पुलिस से कभी सुरक्षा की आशा नहीं कर सकते, न्यायपालिका से भी न्याय की आशा नहीं कर सकते और वे प्रशासन से भी कुछ नहीं पा सकते। सार्वजनिक सेवाओं में क्रूरता से अस्पृश्यों को तभी मुक्ति मिल सकती है, जब कार्यकारी पदों पर अस्पृश्यों की नियुक्ति की जाए। गोलमेज सम्मेलन में मैंने इसी बात पर बल दिया था कि मंत्रिमंडल में उन्हें प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया जाए, ठीक उसी प्रभावी ढंग से जैसा कि व्यवस्थापिकाओं में उनके प्रतिनिधित्व के अधिकार दिए जाएंगे। गोलमेज सम्मेलन ने इस दावे की वैधता को मान लिया था और उन्हें लागू करने के तरीके भी खोज लिए थे। उस प्रस्ताव को प्रभावी ढंग से लागू करने के दो तरीके थे। प्रथम यह था कि भारत सरकार के अधिनियम में कानूनसम्मत ऐसा उपबंध किया जाए कि उस कानूनी दायरे से बचना असंभव हो। दूसरा

तरीका यह था कि कानूनसम्मत प्रावधान न होकर इंसानियत और भलमनसाहत से मामला आम सहमति पर छोड़ दिया जाए, जैसा कि प्रथा के अनुसार इंग्लैंड के संविधान में प्रावधान है। मैंने तथा अल्पसंख्यक समुदायों के प्रतिनिधियों ने कुछ प्रमुख भारतीयों की इच्छानुसार देशवासियों से दूसरे तरीके पर कोई जोर नहीं दिया और इसलिए मध्यम मार्ग पर सहमति हो गई। गर्वनरों के लिए जो निर्देश जारी होने थे और उनमें एक यह धारा जोड़ी जाने वाली थी कि उन्हें इस बात का ध्यान रखना होगा कि मंत्रिमंडल का गठन करते समय उसमें अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व अवश्य हो। नियम इस प्रकार था–

''मंत्रिमंडल का गठन करते समय गवर्नर निम्नलिखित तरीके से मंत्रिमंडल गठित करने का भरकस प्रयत्न करेगा– वह ऐसे व्यक्ति के परामर्श से जिसे विधानमंडल में स्थिर बहुमत प्राप्त हो, उन व्यक्तियों को नियुक्त करेगा (जिनमें जहां तक व्यवहार्य हो, महत्वपूर्ण समुदायों के अल्पसंख्यक सदस्य भी सम्मिलित होंगे) जिन्हें विधान–मंडल का सामूहिक विश्वास प्राप्त होगा। ऐसा करते हुए वह इस प्राकर मंत्रिमंडल का गठन करेगा कि उनमें मंत्रियों में सामूहिक दायित्व वहन करने की भावना हो।''

इस व्यवस्था का क्या हुआ इसकी भी एक दिलचस्प कहानी है। कांग्रेस ने घोषणा की कि वे विभिन्न कारणों से जिनका उल्लेख आवश्यक नहीं, भारत सरकार के अधिनियम १९३५ को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। यह सभी को स्पष्ट था और बहुत से कांग्रेसी भी जानते थे कि इस घोषणा के पीछे कोई गंभीरता नहीं है। इसका उद्देश्य जनता की निगाहों में कांग्रेस की यह छवि बनाने को छोड़कर और कुछ नहीं था कि कांग्रेस ही एक क्रांतिकारी दल है, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने की क्षमता रखता है। यही वह कथा थी, जिसकी कांग्रेस सदा रट लगाती थी। यह उनकी केवल एक चाल थी। कांग्रेस वही अधिकार प्राप्त करना चाहती थी, जो गवर्नर को संविधान के अंतर्गत विशेष परिस्थितियों में हस्तक्षेप करने के लिए मिले थे। कांग्रेस ने संविधान को अस्वीकार करने की घोषणा नहीं की, क्योंकि वह जानती थी कि संविधान ही वह साधन है, जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को दरकिनार करने की धमकी दी थी। ब्रिटिश सरकार ने न केवल १ अप्रैल १९३७ को संविधान के प्रांतीय अंश का शुभारंभ किया, बल्कि वास्तव में गैरकांग्रेसी अंतरिम मंत्रिमंडल भी बना डाला। कांग्रेसी सिहर उठे, क्योंकि वे सत्ता के भूखे थे और इन्होंने सौतिया डाह वाले राजनीतिज्ञों का जमघट बना रखा था। उन्हें अनुभव हुआ कि वे परिश्रम का फल चखने से वंचित किए जा रहे हैं। ब्रिटिश सरकार तथा कांग्रेस हाई कमान के बीच समझौतों का दौर शुरू हुआ। कांग्रेस हाई कमान ने मांग की कि यदि ब्रिटिश सरकार यह वचन दे कि मुख्य दायित्व संबंधी धाराओं के अंतर्गत दिए गए अधिकारों का प्रांतीय शासन में गवर्नर रोजाना हस्तक्षेप नहीं करेंगे, तो कांग्रेस ने जो इस बात के लिए बहुत समय से आस लगाए बैठी थी कि नया संविधान लागू हो, वचन देने की शर्त मान ली। उस समर्थन का आशय आश्चर्यजनक है कि कांग्रेस हाई कमान ने उस वचनबद्धता को ऐसा विस्तृत रुप दिया कि प्रांतीय गवर्नरों को प्रांतीय मंत्रिमंडलों में प्रतिनिधित्व देने के जो निर्देश दिए गए थे और इसके लिए जो अधिकर उन्हें मिले थे, गवर्नर उनका उपयोग न कर सकें। गवर्नर जिन्होंने कांग्रेस को पूरा स्थान दिया और अपने अधिकारों का समर्पण कर दिया एवं कांग्रेस के संविधान द्वारा प्रदत्त व्यवस्था के अंतर्गत उन्हें सत्तासीन कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस ने दिमागी कलाबाजी करके अविलंब अस्पृश्यों और अन्य अल्पसंख्यकों को मंत्रिमंडल में प्रतिनिधित्व देने के स्थान पर अंगूठा दिखा दिया।

अस्पृश्यो को मंत्रिमंडल में प्रतिनिधित्व से वंचित करने की योजना कांग्रेस के दुर्भाग्य की द्योतक है।

कांग्रेस ने अपने मंत्रिमंडल में अल्पंसख्यक प्रतिनिधियों को शामिल न करने का, जो तर्क दिया था कि एक दलीय मंत्रिमंडल होना चाहिए क्योंकि उसे सामूहिक दायित्व निभाना होता है और कांग्रेस अल्पसंख्यक समुदायों को मंत्रिमंडल में तभी स्थान दे सकती है, जबकि वे कांग्रेस में मिल जाए और उसकी सदस्यता ग्रहण कर लें। दूसरे अल्पसंख्यकों के लिए ऐसे तर्कों में कितना भी वजन हो, परंतु अस्पृश्यों के लिए ऐसे तर्कों का कोई मूल्य नहीं है। कांग्रेस अस्पृश्यों को अपने मंत्रिमंडल में शामिल करने से अपने को नही बचा सकती थी। इसके दो कारण थेः पहला कारण यह है कि कांग्रेस पूना पैक्ट की शर्तों के अनुसार अस्पृश्यों को मंत्रिमंडल में प्रतिनिधित्व देने के लिए बाध्य थी और दूसरी बात कांग्रेस यह नहीं कह सकती थी कि कांग्रेस की नीति पर चलने वाली व्यवस्थापिकाओं में अस्पृश्य कांग्रेस के टिकट पर जीत कर पहुंचे थे। तब कांग्रेस ने अस्पृश्यों को प्रांतीय मंत्रिमंडलों में क्यों नहीं लिया? इसका उत्तर केवल यही है कि **वह कांग्रेस की नीति का एक भाग था कि अस्पृश्यों को मंत्रिमंडलों में प्रतिनिधित्व न दिया जाए और इस नीति को श्री गांधी का समर्थन प्राप्त था। जिन्हें इस कथन की सत्यता में कोई संदेह हो वे निम्नलिखित प्रमाण पर विचार करें–**

प्रमाण के लिए सर्वविदित पहली घटना हमें वहां मिलती है, जब माननीय डा.खरे मध्य प्रांत में कांग्रेस के प्रधानमंत्री (प्राइम मिनिस्टर) थे और उन्हें कांग्रेस से निकाल दिया गया। इसलिए अपने मंत्रिमंडल में आंतरिक झगड़ों और कठिनाइयाँ पैदा करने वालों के कारण डा. खरे ने उन मंत्रियों से छुटकारा पाने के लिए एक युक्तिसंगत तरीका यह अपनाया कि उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया तथा अन्य मंत्रियों के भी त्यागपत्र प्राप्त कर नई सरकार बनाने के लिए गवर्नर को सिफारिश की। इसके बाद गवर्नर ने वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करते हुए डा. खरे को दूसरा मंत्रिमंडल गठित करने के लिए आमंत्रित किया। डा. खरे ने आमंत्रण स्वीकार किया और कुछ पुराने विवादास्पद मंत्रियों को छोड़ते हुए कुछ नए मंत्री शामिल करके मंत्रिमंडल का पुनः गठन किया। डा. खरे का नया मंत्रिमंडल इस अर्थ में पुराने मंत्रिमंडल से भिन्न था कि उसमें एक अस्पृश्य मंत्री, श्री अग्निभोज को शामिल किया गया था, जो कांग्रेस दल के थे और मध्य प्रांत की व्यवस्थापिका के सदस्य भी थे। इसके साथ-साथ वह मंत्री बनने योग्य पूर्ण शैक्षिक योग्यता प्राप्त सदस्य थे। २६ जुलाई १९३८ को वर्धा में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई और यह प्रस्ताव पास किया गया कि डा. खरे ने पुराने मंत्रिमंडल के अपने सहयोगियों सहित त्यागपत्र देकर बहुत गंभीर गलती की और नया मंत्रिमंडल गठित कर उन्होंने अनुशासनहीनता की है। नए मंत्रिमंडल का गठन करने में उन्होंने क्या गलती की, इसके स्पष्टीकरण में डा.खरे ने खुले तौर पर कहा कि श्री गांधी के अनुसार एक अस्पृश्य को मंत्रिमंडल में शामिल करना अनुशासनहीनता थी। डा. खरे के अनुसार श्री गांधी ने कहा कि यह निर्णय गत था, क्योंकि उन्होंने अस्पृश्यों की आकांक्षाओं और आशाओं को प्रोत्साहन दिया, जिसके लिए उन्हें क्षमा नहीं किया जा सकता। यह बयान डा. खरे ने कई बार खुलकर राजनीतिक मंच से दिया, जिसका श्री गांधी ने कभी खंडन नहीं किया।

इस बात को सिद्ध करने के लिए और भी स्पष्ट सबूत प्राप्त हैं। १९४२ में अस्पृश्यों की अखिल भारतीय सभा हुई थी। उस सभा में दलितों की कुछ राजनैतिक मांगों के प्रस्ताव पास हुए थे। कांग्रेस पार्टी के एक अस्पृश्य सदसय ने सभा में भाग लिया था। वह श्री गांधी के पास यह जानने के लिए कि वह उन मांगों के बारे में क्या कहते हैं और उनसे निम्नलिखित पांच प्रश्न पूछे–

१. भावी संविधान में हरिजनों की क्या स्थिति होगी?
२. क्या आप सरकार और कांग्रेस को यह राय देंगे

कि जनसंख्या के आधार पर पंचायत बोर्ड से राज्य परिषद तक पहुंचन के लिए पांच सीटें निश्चित की जाए?

३. क्या आप कांग्रेस और विभिन्न बहुमत वाले दलों के नेताओं से प्रांतीय विधानमंडलों में अनुसूचित जाति के जिन विधायकों को अनुसूचित जातियों का विश्वासप्राप्त है, उन्हें मंत्रिमंडल में नामजद करने की सलाह देंगे?

४. हरिजनों के पिछड़ेपन के कारण क्या आप सरकार को सलाह देंगे कि नियमों में इस प्रकार का प्रावधान किया जाए कि स्थानीय निकायों को म्युनिसिपिल कौंसिलों के कार्यकारी पदों पर बारी-बारी से सांप्रादायिक आधार पर हरिजनों को प्रधान और चेअरमैंन बनने का अवसर दें?

५. जिला कांग्रेस कमेटी से कांगेस वर्किंग कमेटी तक हरिजनों को पहुंचने के लिए सीटों का कुछ प्रतिशत क्यों नहीं निश्चित किया जाता?

गांधी जी ने २ अगस्त १९४२ के हरिजन पत्र के माध्यम से उनके प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया था-

''१. मेरी सहमति से बने संविधान में इस बात का प्रावधान किया जाएगा कि किसी भी रुप में अस्पृश्यता बरतना अपराध माना जाए और आबादी के अनुपात से अस्पृश्यों के लिए सभी निर्वाचित संस्थाओं में सीटें आरक्षित होंगी।

२. उपरोक्त ही देखें।

३. मैं नहीं कह सकता। यह सिद्धांत खतरनाक है। उपेक्षित वर्गों का संरक्षण उस सीमा तक ले जाना ठीक नहीं जहाँ से उनका और देश का नुकसान होता हो। एक मंत्री के रुप में किसी व्यक्ति का चुनाव उसकी उच्च योग्यता और उसकी सर्वव्यापी लोकप्रियता पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति चुनाव जीत कर सीट प्राप्त करता है, वह उसकी स्वाभाविक योग्यता और लोकप्रियता पर निर्भर करता है।

४. पहली बात तो यह है कि मौजूदा संविधान को मैं पसंद ही नहीं करता क्योंकि वह बेजान है। परंतु मैं उसी आधार पर जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, आपके प्रस्ताव का विरोध करता हूं।

५. पहले बताए कारणों से मैं इस सुझाव के भी विरुद्ध हूं। परंतु मैं निर्वाचक कांग्रेस संस्थाओं को विवश करुंगा कि वे कांग्रेस रजिस्टर में हरिजन सदस्यों की संख्या के अनुपात में हरिजनों को अवश्य निर्वाचित करें। अगर हरिजन चार आने की सदस्यता शुल्क देकर कांग्रेस के सदस्य नहीं होना चाहते तो उनका नाम निर्वाचित संस्थाओं में कैसे हो सकता है? परंतु मैं कांग्रेस कार्यकर्ताओं को जोर देकर कहूंका कि वे हरिजनों के पास जाएं और उन्हें कांग्रेस सदस्य बनने के लिए प्रोत्साहित करें।''

अब क्या इसमें और भी कोई संदेह रह गया है कि श्री गांधी और कांग्रेस यह गांठ बांध कर बैठे हुए थे कि मंत्रिमंडल में अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व के अधिकार को मान्यता न मिल जाए। जहां तक योग्यता का प्रश्न हे, यदि श्री गांधी समस्त अल्पसंख्यकों पर कुछ शर्ते लागू कर देते, तब भी उनकी कोई तुक होती। क्या श्री गांधी मुसलमानों की मांग पर यही कहने का साहस कर सकते थे? केवल अस्पृश्यों के लिए ही रास्ते बंद करने का क्या अर्थ था? किसी ने भी इस प्राकर का दावा नहीं किया है कि अयोग्य अस्पृश्य मंत्री बना दिए जाएं इससे केवल श्री गांधी के मन में पड़ी गांठ ही परिलक्षित होती थी।

कांग्रेस ने पूना पैक्ट को पलीता लगाने के लिए जितने पैतरे अपनाए उनमें से दो मुख्य हैं। पहले तो कांग्रेस की उस नीति से संबंधित है जो कांग्रेस संसदीय बोर्ड ने चुनाव के लिए उम्मीदवार चुनने के बारे में अपनाई थी। दुर्भाग्यवश इस प्रश्न का उसकी महत्ता के अनुसार गहन अध्ययन नहीं किया गया। मैंने इस प्रश्न का विवेचन किया है और मैं मैं उसके नतीजे प्रमाण सहित अलग से प्रकाशित करने की आशा करता हूं।

उन बोर्डों में अभ्यर्थियों के चुनाव के लिए जो सिद्धांत अपनाए गए थे, मैं उनका उल्लेख कर रहा हूं। बोर्डों में कांग्रेस सांप्रदायिकता की मुख्य भूमिका निभा रही थी। जिस निर्वाचनक्षेत्र में दो अभ्यर्थियों का चुनाव होना था, वहां योग्यता ताक पर रख दी गई। क्या कांग्रेस ने सुयोग्य को चुना? उन्होंने उस जाति के प्रत्याशी को चुना, जिसका वहां बाहुल्य था। धन दौलत भी उनका एक सूत्र था। एक गरीब और योग्य प्रत्याशी की अपेक्षा अधिक धनी अभ्यर्थी को प्राथमिकता दी जाती थी। ये सभी सिद्धांत न्यायोचित नहीं थे। परंतु उनका ध्येय था कि उम्मीदवार सरलता से सीट निकाल ले। परंतु कुछ अन्य ऐसे भी सिद्धांत थे, जिससे कांग्रेस की गहरी चाल स्पष्ट हो जाती है। विभिन्न वर्गों के अभ्यर्थियों के लिए विभिनन प्रकार की योग्यताएं निर्धाथ्रत की गई थी। सवर्ण हिंदुओं, जैसे ब्राह्मणों और उनसे मिलती जुलती उचच जातियों के काफी सुयोग्य प्रत्याशियों को ही चुना जाता था। वे गैर-ब्राह्मण जिनको इस मामले में अच्छी योग्यता वालों की अपेक्षा कम योग्यता वालों को वरीयता दी जाती थी। अस्पृश्यों के मामले में अर्धशिक्षित या अंगूठा-टेक लिए जाते थे। मैं यह नहीं कहता कि ऐसा सभही मामलों में सही है। परंतु सामान्य रुझान यही था कि कांग्रेस द्वारा जिन प्रत्याशियों का चुनाव होता था, उनमें से ब्राह्मणों तथा सवर्ण हिंदुओं के उम्मीदवार सुयोग्य होते थे जबकि अछूतों में से अशिक्षितों को चुन लिया जाता था। इस प्रकार की साजिश का उद्देश्य केवल यही था कि ब्राह्मणों और उनकी सहयोगी जातियों का ही प्रभुत्व मंत्रिमडल में रहे और उन्हें गैर-ब्राह्मणों और उन्हें गैर-ब्राह्मणों तथा अस्पृश्यों का पूरा समर्थन मिलता रहे और आज्ञाकारी अस्पृश्य तथा गैर-ब्राह्मण कभी भी उस मंत्रिमंडल में उनके विरोधी बनने का स्वप्न न देख सके, वरन वे इसी से संतुष्ट रहे कि वे विधानमंडलों के सदस्य हैं और वे सदस्य बन कर आ गए हैं। श्री गांधी मामले के इस पहलू को उस समय नहीं देख सके जब उन्होंने कहा था कि उसी अस्पृश्य को मंत्री बनाया जाए, जो सुयोग्य हो। अन्यथा वह समझते कि यदि कांग्रेसियों में योग्यता प्राप्त अस्पृश्य नहीं हैं, तो इसका कारण यह था कि कांग्रेस संसदीय बोर्ड अछूतों में से सुयोग्य अभ्यर्थियों को चुनता ही नहीं। यदि चुनाव की वर्तमान व्यवस्था कायम रहती है, तो कांग्रेस भारतीयों को विधानमंडल का सदस्य होने से सदैव रोक सकती है, जो मंत्रिमंडल में पहुंचने की पहली सीढ़ी है। यह बहुत दुखद बात है कि कांग्रेसियों द्वारा अस्पृश्य प्रत्याशियों का इस प्राकर चुनाव करने की योजना बनाना कि उन अस्पृश्यों को मंत्री पद से वंचित किया जाए यह बहाना बना कर कि वे योग्यता प्राप्त नहीं हैं, उन पर बहुत बड़ा आघात करना है जो रहस्यमय ढंग से भीतर ही भीतर षड्यंत्र का अंग है।

कांग्रेस का दूसरा दोष यह था कि अस्पृश्य कांग्रेसियों को कड़े दलीय अनुशासन का डंडा दिखाया जाता था। वे कांग्रेस कार्यसमिति के नियंत्रण में रहते थे। वे ऐसा विधान नहीं ला सकते थे जिसे कांग्रेस पसंद न करती हो। वे बिना इजाजत कोई प्रस्ताव नहीं ला सकते थे। वे विधानमंडल में यह विधेयक नहीं ला सकते थे, जिस पर उन्हें एतराज हो। वे अपनी पसंद से मतदान नहीं कर सकते थे और उचित बात भी नहीं बोल सकते थे। वे वहां पर खींच कर लाए जाने वाले बेजबान जानवरों के समान थे। अस्पृश्यों के लिए विधानमंडल में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का मुख्य उद्देश्य अपने वर्ग की कठिनाइयों को उजागर करना और अतयाचारों पर काबू पाना था जिसे कांग्रेस ने सफलतापूर्वक प्रभावी ढंग से रोक दिया।

इस लंबी दुखभरी कहानी का अंत करने के लिए कांग्रेस ने पूना पैक्ट रुपी फल से प्राप्त रस को चूस लिया और छिलका अस्पृश्यों के मुंह पर दे मारा।

अम्बेडकर वैचारिकी और दलित साहित्य के अंतःसंबंध

-ईश कुमार गंगानिया

दिनांक २९.०९.२०१४ को जवाहर लाल यूनिवर्सिटी, दिल्ली के कन्वेंशन सेंटर में इंडियन इस्टीट्यूट ऑफ दलित स्टडीज की दसवीं वर्षगांठ पर सेंटर फॉर दलित लिटरेचन एंड आर्ट द्वारा एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसका विषय था 'अम्बेडकरवाद एवं दलित साहित्य के अंतःसंबंध'। इस संगोष्ठी का पहला सत्र जिसमें मैं भी एक वक्ता के रुप में आमंत्रित था, विषय था **'अम्बेडकर वैचारिकी और दलित साहित्य के अंतःसंबंध'।** निस्संदेह विषय बहुत गंभीर ही नहीं, व्यापक भी था। इस विषय पर मैंने अपना पक्ष रखा। इसकी विषय वस्तु इस आलेख के रुप में यहाँ मौजूद है। मैं अम्बेडकर वैचारिकी यानी अम्बेडकरवाद और 'दलित' शब्द के प्रयोग और 'दलित' शब्द को केन्द्र में रखकर अस्तित्व मे आए दलित साहित्य को लेकर एक अजीब प्रकार के द्वंद्व से गुजर रहा हूं। यहां मैं अपने भीतर के इस द्वंद्व को आप बुद्धिजिवियों से साझा करना चाहता हूं। संभवतः यह द्वंद्व अम्बेडकवार और दलित साहित्य के अंतःसंबंध को समझने में हमारी मदद करे। यदि मैं यह कहूं कि मुझे 'दलित' शब्द को अपने समाज की अस्मिता (आईडेंटिटी) बनाने का आव्हान कभी नहीं किया। गौरतलब यह भी है कि कुछ बुद्धिजीवी इसे मूलनिवासी/अम्बेडकरवादी समाज जैसी और भी कई नई-नई पहचान दिलाने के लिए संघर्षरत हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज भी बुद्धिजीवियों का एक बड़ा तबका अपने आपको दलित और साहित्य को 'दलित साहित्य' कहे जाने के लिए बाजिद है। इस कड़ी में कांचा इलैया, जो एक बडे चिंतक है, का उल्लेख किया जा सकता है- ''अब खुद धर्म का इतिहास भी अपने अंत पर पहुंच रहा है। हमारे लिए जरुरी है कि अपने समग्र समाज का दलितीकरण करें। दलितीकरण ही सारे भारतीय समाज में एक नए समतावादी भविष्य की स्थापना करेंगा।'' (मैं हिन्दू क्यों नहीं हूं, पृ.१०४) यदि इस टिप्पणी पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तो समस्त समाज का दलितीकरण जरुरी हैं। प्रश्न यह भी है कि समग्र समाज का दलितीकरण कैसे होगा? क्या उन्हें (गैर-दलितों का) अन्य विभिन्न प्रकार की निम्न जातियों में बांटा जाएगा? क्या उनका आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक व राजनीतिक रुप से दलन किया जाएगा? क्या उन पर विभिन्न स्तर पर निर्योग्यताएं थोपी जाएगी? क्या कांचा इलैया का तात्पर्य यह है कि ऐसा करने से पूरा समाज समान रुप से दलित हो जाए यानी यही समग्र समाज के दलितीकरण की प्रक्रिया है? क्या कांचा इलैया का समता का यही पैमाना होगा? यह सब कौन-सी कानून लागू करने वाली (लो-इनफोर्सिंग) संस्था की मदद से किया जाएगा? इतनी मगजपच्ची करने के बाद भी यह मेरी समझ से बाहर है कि दलितीकरण की प्रक्रिया देखने व अनुभव करने में कैसी होगी और इससे कैसे भारतीय समाज में नए समतावादी भविष्य की स्थापना होगी। कांचा इलैया साहब को यह ठीक-ठीक स्पष्ट करना चाहिए। इस प्रकार की सोच अम्बेडकरवादी नहीं, दलितवादी (हीनताबोधी) महसूस होती है। यह टिप्पणी दर्शाती है कि जब हमारी नेतृत्वकारी सोच के पास ठीक से सपने देखने की क्षमता का अभाव है। ऐसे में किसी शोषण उत्पीड़न से मुक्त व अस्मितापरक समाज के निर्माण की हकीकत हमसे कितनी दूर है, यह समझना एक सामान्यजन के लिए भी मुश्किल नहीं होना चाहिए।

इस कड़ी में वी टी राजशेखर जैसे प्रखर चिंतक, जो इंग्लिश की पत्रिका 'दलित वायस' भी निकालते हैं, का उल्लेख किया जा सकता है- ''दलित होने,

इस प्राचीन धरती के मूलनिवासी होने में गर्व महसूस करो। आओ सिर ऊंचा करके चलें। दलित संस्कृति पर गर्व करें। जो काला है वह सुंदर है।'' (दलित वॉयस, खंड-८, अंक १६, जून १-१५, १९८८) मुझे इस देश का मूलनिवासी होने पर तो गर्व है और इसमें सिर ऊंचा करने वाली बात स्वाभाविक ही है। लेकिन दलित होने पर कैसे गर्व किया जा सकता है और इस स्थिति पर कैसे सिर ऊंचा करके चला जाता है, यह मेरी समझ से बाहर है। यही नहीं दलित संस्कृति पर कैसे गर्व किया जाता है, यह तो वी टी राजशेखर ही बता सकते हैं। मुझे जैसे साधारण व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है। मुझे ऐसी तर्क व विवेकहीन प्रवृत्ति हिन्दूवादी आस्था व अंधविश्वास की द्योतक लगती है। इतना ही नहीं दलित कट्टरवाद की यह प्रवृत्ति हिन्दूवादियों के वेदों, पुराणें और अन्य धार्मिक साहित्य के अंधानुकरण व इसे दूसरों पर थोपने के षडयंत्र की याद दिलाती हैं यह इस देशके मूलनिवासियों की प्रकति-आधारित वैज्ञानिक व तर्क-विवेकपूर्ण संस्कृति से दूर-दूर तक मेल खाती नजर नहीं आती। अब पाठक ही तय करें कि यह कैसे संभव हो सकता है।

इतना ही नहीं, यह भी बड़े प्रबल दावे के साथ कहा जाता है कि दलित साहित्य अम्बेडकरवादी विचारधारा पर आधारित साहित्य है। परिणामस्वरुप, बाबा साहब की वैचारिकी के मद्देनजर हिन्दूवाद का विरोध जमकर हो रहा है। बौद्ध धम्म को समाज का धर्म बनाने की काफी जद्दोजहद हो रही है। जातिविहीन व समतमामूलक समाज की बात खूब होती है। नारी अस्मिता और सशक्तिकरण भी मुख्यधारा की लड़ाई के रुप में प्रमुखता के साथ मौजूद है। कविताओं, कहानियों, उपन्यासों व आत्मकथाओं में शोषण-उत्पीड़न के हथकंडों पर खूब बात हो रही है यानी शोषक और शोषित की तस्वीर इस साहित्य के माध्यम से बिल्कुल स्पष्ट हो रही है। इस साहित्य में आक्रोश इतना बढ़ गया है कि कुछ लोग आक्रोश को इस साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति व साहित्य के सौंदर्य के रुप में अनिवार्यता प्रदान करने में बढ़ चढ़कर हिस्सा लेते हैं। **गौरतलब है कि आक्रोश में विवेक नहीं रहता और इसमें रचनात्मकता का भी ऱ्हास होता है। इसलिए मुझे लगता है कि आक्रोश की अपेक्षा हमें अपने तर्क गंभीरता व जिम्मेदारी से रखने चाहिए।** मैं यह भी मानता हूं कि 'दलित' शब्द और इससे जुड़े साहित्य के लिए 'दलित साहित्य' के पैरोकारों की कमी नहीं है। लेकिन फिर भी मेरी दृष्टि में यह आधा सच है, पूरा नहीं। इसलिए मैं सहमा-सा अपने आपको 'दलित' शब्द से जुड़े इस कट्टरवादी रुख के विपरीत छोर पर खड़ा पाता हूं। मुझे **दलित साहित्य**/वैचारिकी उस बकरे जैसी प्रतीत होती है जिसकी बलि सदा से दी जाती रही है। इसके विपरीत **अम्बेडकर वैचारिकी**/अम्बेडकरवाद एक बाघ जैसा है, जिसकी बलि लेने जैसी किसी प्रथा के अस्तित्व में आने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

मैं यह मानकर चलता हूं कि दलन/अत्याचार उन पर होते हैं जो दलितपन के दायरे से बाहर निकलने या इससे बाहर झांकने की कोशिश करते हैं। जिन्होंने दलन का आत्मसात कर लिया हो उसके लिए दलित न शोषण्-उत्पीड़न का कोई खास अर्थ ही नहीं रह जाता। न वह इसका प्रतिकार ही करता है और न ही इससे पीडित ही महसूस करता है। साफ है कि वह इसे नियति मानकर चलता है। मुझे दलित साहित्य के पैरोकारो का अपने आपको 'दलित' की परिधी में कैद रखना यानी अपनी वास्तविक व गरिमामय अस्मिता की तलाश के प्रति निष्क्रिय/उदासीन जैसे बने रहना अपनी मौजूदा स्थिति से आत्मसात करने जैसा ही लगता है। इसलिए मुझे मौजूदा दलित साहित्य की स्थिति उस बलि के बकरे जैसी लगती है जिसने अपनी बलि को स्वाभाविक मान लिया है। यह साहित्य तथाकथित जातिवाद/वर्णवाद/ब्राह्मणवाद की

आक्रोशपूर्ण आलोचना तक सिमटा नजर आता है। यह गंभीर चिंता की बात है कि हम अपनी रचनात्मक भूमिका से विमुख होते जा रहे हैं। कुछ मामलों में हम जैसे हिन्दूवादी सत्यनारायण की कथा का पाठ करते हैं, वैसे ही हम बाबा साहब की कथा का पाठ करने तक सिमटे होते है। इसके विपरीत डा. अम्बेडकर वैचारिकी यानी अम्बेडकरवाद ऐसा गतिशील व निरंतर परिवर्तनकामी दर्शन है हमें निरंतर प्रयोगात्मक स्थिति में रखता है। यह हमें हमारा कल क्या था, आज क्या है और आगे क्या और कैसे होना चाहिए, इस पर फोकस करने को प्रेरित करता है। अम्बेडकरवाद एक ऐसे योद्धा जैसा है जो जीवन संघर्ष के लिए सम्यक शिक्षा, तर्क-विवेक व सार्वभौतिक रचनात्मकता पर आधारित सम्यक निर्णय लेने जैसे असले/युद्ध सामग्री से लैंस होता है। गौरतलब है कि इसमें किसी प्रकार के अंधानुकरण के लिए कोई स्थान नहीं है।

अम्बेडकरवाद की कसौटी पर प्रो. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' पर विचार किया जा सकता है। इसमें आक्रोश है, एक प्रकार से पूरे सिस्टम से बगावत है और इस बगावत के केन्द्र में स्वयं व्यक्ति है। इससे जो हासिल होने वाला है वह स्वयं के लिए है, किसी और के लिए नहीं। ''गांव के ब्राह्मण हमारे घर वालों से कहते थे कि ज्यादा पढ़ने से लोग पागल हो जाते हैं... ठाकुर और चमार की तुलना पढ़ाई के संबंध करते हुए उन्हें कहा जाता है- ''घोड़वा के देखी मेडकिया नाल मराई, त का ऊ जिंदा रही।'' (यानी घोड़ी के पैरों में नाल जड़ते देख यदि मैंडकी पैर उइाएगी तो क्या वह जिंदा रहेगी।) दंवरी के काम में लगाया जाना, फिर सारे विरोध के बाद भूखे पेट या रात का बचा खाना खाकर स्कूल जाना, मिट्टी के तेल के अभाव में रात में दीया न होना, विद्यालय में ठाकुर अध्यापकों व छात्रों का होना, जिगरसंडी गांव रोज १.५ किलोमीटर पैदल चलकर अपने सहपाठी चिंतामणी सिंह को पढाने जाना, रात को नौकरों/मजदूरों के खाने से एक हिस्सा खाना मिलना और मजदूरों के कमरे में सो जाना। सुबह घर आकर फिर स्कूल जाना, हीरालाल का जातिसूचक व अन्य प्रकार के प्रहार करना। जहां ३५ प्रतिशत बच्चे ही पास होते थे वहां फस्ट डिविजन में पास होना और गांव के दबंगों द्वारा 'चमरा टाप कईलै' (चमार ने टॉप कर लिया) टिप्पणी आना। प्रो. तुलसीराम द्वारा सारे भूतप्रेत और अंधविश्वासी परंपराओं को तोड़ना अम्बेडकरवादी/आम्बेडकरी वैचारिकी के पुख्ता प्रमाण है। पढाई के लिए घर-परिवार वालों से चोरी से कस्बे मे ंभाग जाना। ये तरीके ऐसे आक्रोश के हैं जो स्वयं के आगे बढ़ने लिए जरुरी हैं, दूसरों की टांग खींचने वाले नहीं। इसमें मौजूदा लाईन को छोटी करने के लिए अपने दम पर एक बड़ी लाईन खींचने की बात है। बाबा साहब का पूरा जीवन ऐसे ही कारनामों से भरा पड़ा है। अपनी बड़ी लाईन खींचकर आगे बढ़ना ही बाबा साहब ही लाईन है। यही समाज में व्यक्ति को स्वीकार्य व आदरणीय बनाती है। ऐसे दर्शन के दम पर ही तो **बाबासाहब आज दुनिया के १०० श्रेष्ठतम बुद्धिमानों की श्रेणी में सम्मानजनक पोजिशन में मौजूद है।** आज जरुरत भी इसी की है। अम्बेडकरवादी ऐसी ही सोच ने बेहद मामूली, अभावग्रस्त और असीम समस्याओं से ग्रस्त बालक को जे एन यू का प्रो. तुलसीराम बना दिया। लेकिन आज हम गैर-दलितों को ही नहीं, आपस में एक दूसरे की निंदा/आलोचना करके एक दूसरे की जड़ों को काटने में अपनी ऊर्जा के अपव्यय में लगे हैं। यह दलितपन के लक्षण हैं, अग्रगामी आम्बेडकरी वैचारिकी का नहीं।

इसके विपरीत हमारे प्रखर विद्वान डा. धर्मवीर जी हैं, जो अपने आपको डा. अम्बेडकर का बालक बताते हैं। उन्होंने आई ए एस जैसे बड़े पद को सुशोभित किया और कुछ समय पहले तक बहुत ही उम्दा व गंभीर लेखन भी किया। लेकिन आजकल डा. धर्मवीर तथागत बुद्ध और डा. अम्बेडकर के चिंतन-दर्शन की

जड़ों में मट्ठा डालकर अपने आधे-अधूरे आजीवक दर्शन की बुनियाद रखने की कोशिश में हैं। उनकी विद्वत मंडली तथाकथित उनकी आत्मकथा 'मेरी पत्नी और भेडिया,' उनके जार चिंतन और कबीर को आजीवक दर्शन की बैसाखी बनाने पर तुले हैं। ये कभी 'आजीवक' को दलित धर्म या कभी किसी अन्य 'दलित धर्म की खोज' की बात करते है। डा.धर्मवीर के इस उपक्रम की तुलना आर एस एस व विश्व हिन्दू परिषद के उस आन्दोलन से की जा सकती है जिसमें वे 'हिन्दू' को कभी धर्म कहते है, कभी सिंधु घाटी से उपजा बताते हैं, कभी इसे हिन्दी से जोड़ते हैं, कभी इसे हिन्दुत्व कहते हैं, कभी हिन्दू राष्ट्रवाद कहते हैं, कभी जीवनशैली कहते हैं और न जाने क्या-क्या कहते हैं लेकिन अंततः वही ढाक के तीन पात। ऐसा लगता हैं कि धर्मवीर के पास भी 'आजीवक' के विषय में न कोई ठोस दर्शन है और न कोई विचार ही। इसलिए वे कभी मक्खली गोसाल को आजीवक का सब कुछ बना देते हैं, कभी बाबा साहब को आजीवक कह देते हैं और कभी कबीर को आजीवक का पैगम्बर बनाने जैसी तर्कहीन बहस खड़ी कर देते हैं। माना कि कबीर पर उनका काफी गंभीर काम है लेकिन कबीर को 'आजीवक' के खांचे में जबरन फिट करना कबीर के साथ धोखा है, ना-इंसाफी है। कहने की जरुरत नहीं कि यह कबीर के अतिरिक्त अन्य संतों के साथ भी धोखा व अन्याय है। अति तो तब होती है जब डा.धर्मवीर और उनकी विद्वत मंडली तथाकथित उनकी आत्मकथा 'मेरी पत्नी और भेडिया' को आजीवक ग्रंथ के रुप में प्रचारित करने लगते हैं। यह ठोस वैचारिकी का अभाव है जो अनावश्यक रुप से उन्हें इधर-उधर पैर मारने पड़ रहे हैं। इसे वैचारिकी नहीं, बेचारगी कहा जाना चाहिए, दलितपन कहा जाना चाहिए। ऐसी बेचारगी यानी धूल में लट्ठ मारना अम्बेडकरवाद नहीं हो सकता। क्योंकि यह एक लाईन के साथ बड़ी लाईन खींचना नहीं बल्कि संकीर्ण सोच के तहत बड़ी लाईन (बाबा साहब व तथागत बुद्ध) को काट-छांट कर छोटा करने की नकारात्मक सोच है, व्यर्थ की सोच है।

यह सिक्के का एक पहलू है। इस साहित्य में हम शोषण-उत्पीड़न के विभिन्न पक्षों की बात करते हैं और इसके लिए जिम्मेदार लोगों को अपनी वैचारिक स्वतंत्रता के अधिकार की बदौलत कठघरे में खड़ा करते है। लेकिन अनेक मामलों में हम दूसरों को कठघरे में खड़ा करते समय खुद ही दलितपन के शिकार नजर आते है। इस हकीकत की बानगी के रुप में कांचा इलैया और वी अी राजशेखर के उदाहरणों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। अम्बेडकरवाद के विपरीत दलितपन की इस प्रक्रिया को समझने के लिए कुछ उदाहरण साहित्य से दिए जा सकते हैं। एक-एक कविता में जाने माने आलोचक और प्रखर चिंतक कंवल भारती लिखते हैं -''मेरी मां नाग पंचमी पर बनाती है/नागों की आकृतियां/पिलाती है उनहें दूध/ और नहीं जानती कि/ हम वंशज हैं नाग जाति के/जो हजारों वर्ष पूर्व/बुद्ध के शरणापन्न हुए थे।'' इन पंक्तियों में नाग पंचमी पर नागों की आकृतियां बनाना तो किसी तरह समझ आता है लेकिन उन्हें दूध पिलाना हकीकत से परे है क्योंकि सांप दूध नहीं पीते हैं। यह अलग बात हैं हिन्दूवादी बुतों को भी दूध पिला देते हैं। यहां जिन सापों को दूध पिलाने की बात हो रही है, वह सर्प जाति है, न कि मानव जाति। और हां, जिस नाग जाति के वंशज होने का दावा कंवल भारती जी कर रहे हैं, वह मानव जाति है, सर्प नहीं। दो-मखलान सिंह अपनी एक कविता में कहते हैं- ''सुनो वशिष्ठ! द्रोणाचार्य तुम भी सुनों/हम तुमसे घृणा करते हैं/तुम्हारे अतीत/तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं।'' कविताओं, कहानियों आदि में वशिष्ठ व द्रोणाचार्य के दोगले चरित्र का पर्दाफाश होता है और होना भी चाहिए। इससे शायद ही कोई जिम्मेदार व्यक्ति अपनी असहमति व्यक्त करे। इनके अतीत और

आस्थाओं पर तर्कयुक्त प्रहार करके इनके चरित्र की संकीर्णता को एक्सपोज किया जाना चाहिए। लेकिन इनपर थूकना एक अजीब-सा, घृणित-सा व अनैतिक कार्य किसी भी जिम्मेदार व्यक्ति के लिए तर्कयुक्त नहीं ठहराया जा सकता। थूकने जैसा कार्य करके ऐसा लगता है जैसे हम ऐसे जुमले कसकर अपनी जिम्मेदारियों से मुक्ति पा ली। इससे पीड़ित समाज को कुछ हासिल नहीं होता। उल्टे उसमें नकारात्मकता के संचार की प्रवृत्ति विकसित होने की संभावना बढ़ सकती हैं। यह एक प्रकार की खिसियाहट है, दलितपन की प्रवृत्ति है। इस स्थिति को सही व सकारात्मक दिशा देना अम्बेडकरवाद का जिम्मेदारी है ताकि इससे समाज में एक अनुकरणीय संदेश का संचार हो।

अम्बेडकरवादी कवि ब्राह्मणवादी संस्कृति को कभी 'परायी-संस्कृति' या 'मुर्दा-संस्कृति' कहता है तो कभी उसे 'रखैल-संस्कृति' या 'कुत्ता-संस्कृति' के रुप में चिन्हिंत करता है। टी पी सिंह 'वेताल दृष्टि' में इसे कोढ़ी संस्कृति पुकारते हुए कहते हैं- ''हे व्यास/इस कोढ़ी संस्कृति को/तुम्हीं सम्भालो/ शून्य में पत्थर उछालो।'' यहां टी. पी. सिंह कोढ़ी संस्कृति यानी हिन्दूवादी अपसंस्कृति को सिरं से खारिज करते हुए कहते हैं कि इसे तुम्ही संभालों। यह कोढ़ी व अग्राह्या संस्कृति के नकार की सूझबूझ व शक्ति टी. पी. सिंह को बद्ध व बाबा साहब के दर्शन व उनकी २२ प्रतिज्ञाओं की बदौलत मिलती है। इसमें सम्यक निर्णय दलितवाद का नहीं बल्कि अम्बेडकरवाद का लक्षण है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो कहानियां, कविताओं व उपन्यासों से दिए जा सकते हैं। साहित्य में दलितपन को समझने के लिए जानेमाने कवि व कहानीकार ओमप्रकाश वाल्मीकि के चर्चित आत्मवृत्त 'जूठन' से भी एक ऐपीसोड लेना अनिवार्य महसूस हो रहा है। आत्मवृत्त के लेखक की मां सुखदेव सिंह के घर बारात की जूठी पतलों से भरे टोकरे के अलावा अलग से कुछ खाना मांगती है तो उनके इनकार के बाद उस टोकरे को वहीं छोड़कर प्रतिकार करती हुई चली जाती है, 'इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देना।' इस पर लेखक की टिप्पणी ध्यान देने लायक है कि उस मां का स्वाभिमान जाग गया था और उसकी आंखों में दुर्गा उतर आई थी... और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बंद हो गया था।'

'जूठन' आत्मवृत्त के इस अंश में झूठी पत्तलों से प्राप्त खाद्य सामग्री को लेकर कोई विवाद नहीं है। यह खाद्य सामग्री पशुओं के लिए थी या परिवार के सदस्यों के लिए, यह अलग सोच का विषय हो सकता है। लेकिन अपनी गरिमामय अस्मिता की हिफाजत के लिए हमें कोई भी कार्य करने या किसी भी परंपरा का हिस्सा बनने से पहले थोड़ा विचार जरुर करना चाहिए। यहां तक विवाद नहीं था, इस अंश के अनुसार विवाद तब शुरु होता है जब अलग से खाने की मांग की जाती है। पहली स्थिति तो यह है कि यह सुखदेव की जिम्मेदारी थी कि वह स्वयं ही ऐसा करते। यदि ऐसी उनसे अपेक्षा नहीं थी या अपेक्षा संदिग्ध थी तो अलग से खाद्य सामग्री की मांग नहीं की जानी चाहिए थी। यहां दीगर सवाल यह उठता है कि यदि सुखदेव अतिरिक्त खाद्य सामग्री दे देता तो क्या यह जूठन की प्रक्रिया ऐसे ही चलती रहती जैसे सदियों से चलती आ रही थी। मुझे लगता है कि अम्बेडकरवादी चेतना के चलते यह परंपरा इस अतिरिक्त खाद्य सामग्री की मांग से पहले ही खत्म हो जानी चाहिए थी। इस कड़ी में यह टिप्पणी- 'इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देना' यह टिप्पणी ऐस संकेत देता है जैसे अप्रत्यक्ष रुप से यह कहने की कोशिश की जा रही हो कि इस जूठन पर हमारा ही अधिकार है और तुम इसे इस्तेमाल नहीं कर सकते। मुझे विरोध का यह तरीका अस्मितापरक नहीं लगता। यहां ठाकुर का आक्रामक विरोध नदारत है, जो हमारे पक्ष में नहीं है क्योंकि यह उसे समझदार बना देता है

जबकि वास्तव में वह है नहीं। उसका समझदार व जिम्मेदार होना हमारी समझदारी व जिम्मेदारीपूर्ण सोच पर सवालिया निशान लगता है। मां की आंखों में 'दुर्गा' का उतर आना भी हिन्दूवाद के आत्मसात का लक्षण है, अंधविश्वास और दलितपन का लक्षण है लेकिन अम्बेडकरी वैचारिकी का लक्षण कतई नहीं है।

इस कड़ी में यह चर्चा करना भी जरुरी महसूस हो रहा कि जो कुछ दलित समाज के व्यक्ति के द्वारा लिखा जाता है, क्या उसे दलित साहित्य या अम्बेडकर वैचारिकी का हिस्सा मान लिया जाना चाहिए। वैसे यह दावा अक्सर दलित साहित्यकारों द्वारा किया जाता रहा है कि दलित साहित्य केवल दलित ही लिख सकता है। मैं इन दोनों स्थितियों से असहमति व्यक्त करने को विवश हूं। डा. विजय सोनकर शास्त्री का एपीसोड मुझे अम्बेडकरवादी विचारधारा पर आधारित साहित्य कतई नहीं लगता। नीचे वर्णित ऐपीसोड के आधार पर देखे तो डा.शास्त्री का दलित समाज से संबंधित होना उसके साहित्य को दलित साहित्य व अम्बेडकरी वैचारिक पर खरा उतरने में मदद नहीं करता।

अम्बेडकरी वैचारिकी यानी अम्बेडकरवाद को समझने के लिए समाज में व्याप्त निजद्वैतवाद (फिसीपैरस) यानी वैचारिक दोगलापन की प्रवृत्ति को समझना पडेगा। इसको समझने के लिए हमको विजय सोनकर शास्त्री की दलितों के प्रति भूमिका को भी समझना होगा। गौरतलब है कि डा. विजय सोनकर शास्त्री वर्तमान में भाजपा सांसद ही नहीं है अपितु एस. सी./एस. टी. कमीशन के चेयरमैन भी रह चुके हैं। मूल बात यह है कि ये भाजपा की ओर से दलितों के प्रतिनिधि हैं। ये लगभग पांच वर्षों से 'दलित आन्दोलन पत्रिका' भी निकाल रहे हैं जिसमें बाबा साहब का बड़ा-बड़ा फोटो भी अक्सर होता है।

ये ०७.०९.२०१४ को एन. डी. एम. सी. कन्वैशन सेंटर में अपनी तीन पुस्तकों 'हिन्दू खटीक जाति,' 'हिन्दू चर्मकार जाति' और 'हिन्दू वाल्मीकि जाति' का लोकार्पण आर. एस. एस. चीफ मा. भागवत जी से कराते हैं और स्टेटमैंट देते है- ''हिन्दू उपजातियों की संख्या हजारों में कैसे पहुंच गई, यह अपने आप में शोध का विषय है। आज की अछूत जातियां पूर्व कट्टर और बहादुर जातियां थी। विदेशही आक्रांताओं के अत्याचारी को सहते हुए उन्होंने अपना धर्म परिवर्तन नहीं किया, बल्कि मैला ऐने जैसे कर्म को स्वीकार किया। तब उनसे ज्यादा कट्टर हिन्दू कोन हो सकता है।''

उपरोक्त टिप्पणी हमें अम्बेडकरवादी वैचारिकी यानी अम्बेडकरवादी मानदंड, जिसे मैं डा.अम्बेडकर का विखंडन का सिद्धांत (थ्यौरी ऑफ डीकंशट्रक्शन) भी कहता हूं, पर परखने को बाध्य करती है। ऐसा करने पर हम पाते हैं कि यह टिप्पणी हिन्दूवाद के निजद्वैतवाद (फिसीपैरस कैरेक्टर) यानी विचारों के दोगलेपन पर आधारित है। इस बात पर कौन यकीन कर सकता है कि आर.एस.एस. जो अपने को हिन्दूवाद का सबसे बड़ा हिमायती समझता है और हिन्दूवाद के इतिहास और इसकी संस्कृति के संरक्षण को लेकर बड़े-बड़े दावे करता है, को यह पता न हो कि हजारों जातियां कैसे बनी। यदि उसे सचमुच पता नहीं तो उसे हिन्दुओं के खैरख्वाह बनने का कोई अधिकार नहीं है। कहने की जरुरत नहीं कि आर.एस.एस. को सब पता है। इसका प्रामण वह अपने अगले वाक्य में यह कहकर दे देता है कि ''आज की अछूत जातियां पूर्व कट्टर और बहादुर जातियां थी।'' और ''उन्होंने विदेशी आक्रांताओं के अत्याचारों को सहते हुए उन्होंने अपना धर्म परिवर्तन नहीं किया बल्कि मैला ढोने जैसे कर्म को स्वीकार किया।'' इतना ही नहीं, अंत में यह निष्कर्ष निकाल लिया कि 'उनसे ज्यादा कट्टर हिन्दू कौन हो सकता है।'

आर.एस.एस. के चीफ के बयान की हकीकत

यह है कि उन्हें मालूम है कि वर्तमान दलित अछूत कैसे बनें और उनकी जातियां इतनी संख्या में कैसे हो गई। आर.एस.एस. को यह भी मालूम है कि विदेशी आक्रांता कोई और नहीं वे स्वयं ही हैं। उन्होंने ही इस देश के मूलनिवासियों (आजीवकों) को जो बहुत बहादुर ही नहीं शांतिप्रियता और नैतिकता की अनुपम नस्ल रहे हें, को जाति की दलदल में धकियाया है। ये वैज्ञानिक सोच व प्रकृति के नियमों पर चलने वाले आजीवक, 'जाति' के हिमायती कभी नहीं थे। इन्हें जातियों व वर्णों में बांटने का कार्य आर्यों ने किया। वर्ण व जाति के दम पर ही आर्यों ने अपने आपको स्तरीकरण के उच्च पायदान पर आरुढ़ किया। **इस जाति व वर्ण के उच्च पायदान से ही इन्होंने पूरे समाज को जबरन हिन्दू बनाया।**

कहने की जरुरत नहीं कि इन आर्यां ने ही इस देश के मूलनिवासियों के लिए मैला ढोने, मवेशियों का चमड़ा उतारने और घृणित से घृणित कार्य को स्वीकार करने के अतिरिक्त समाज में रहने का अन्य कोई विकल्प ही नहीं छोड़ा। हां, एक विकल्प था कि समाज को छोड़कर जंगलों की ओर कूंच करना। जाहिर है आर्यों के क्रूर अत्याचार से बचने व अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए इस देश के मूलनिवासियों (आजीवकों) के बड़े-बड़े समूहों ने जंगलों में कूंच किया। आज ये आदिवासी के रुप में जाने जाते हैं। लेकिन यह हिन्दूवादी संगठनों की साजिश है कि इन्हें ये आदिवासी नहीं वनवासी कहकर उनके मूल इतिहास और तथ्यपरक पहचान को मिटाने में लगे हैं। जैसे ये आज अछूतों के लिए एक आधारहीन व षडयंत्रकारी तर्क गढ़ रहे हैं कि अछूतों ने हिन्दू धर्म में बने रहने के लिए सिर पर मैला ढोने जैसे घृणित कार्यों को अपनाया।

आर.एस.एस. चीफ यहां अछूतों के अन्य घृणित पेशों की बात न करके सिर्फ मैला ढोने की बात करना भी एक अलग रणनीति का हिस्सा लगता है। ऐसा करके एक ओर उन्हें कट्टर हिन्दू बनाने की कवायद हो रही है और दूसरी ओर उन्हें मुसलमानों के विरुद्ध साम्प्रदायिक दंगों के लिए एक प्रकार से वैचारिक रुप से तैयार किया जा रहा है। यह अलग बात है कि डा. विजय सोनकर 'हिन्दू खटीक जाति,' 'हिन्दू चर्मकार जाति' और 'हिन्दू वाल्मीकि जाति' नामक पुस्तक लिखकर तीनों जातियों को कट्टर हिन्दू घोषित करने की मुहिम चला रहे हैं। लेकिन आर.एस.एस. चीफ की उपरोक्त टिप्पणी सिर्फ मैला ढोने वालों को कट्टर हिन्दू कहा है। इससे ऐसा लगता है कि वाल्मीकि उनके डाले हुए दाने को आसानी से चुग लेंगे जबकि खटीक व चर्मकार शायद इस हिन्दूवाद के दाने को चुगने से इंकार कर ही दें। डा. विजय सोनकर जैसे विद्वान शायद खटीकों और चर्मकारों में कम ही होंगे जो ऐसी मुहिम का हिस्सा बनने को तैयार होंगे। वरना आर.एस.एस. चीफ इन दोनों जातियों को भी हिन्दूवाद का दाना अवश्य डालतें।

आर.एस.एस. चीफ द्वारा वाल्मीकियों को अपनी हिन्दू ब्रिगेड के लिए चुनना और इस कट्टरता के चलते धर्मांतरण न करने का सर्टिफिकेट देना एक नए विचार को जन्म देता है। संभवतः आर.एस.एस. चीफ यह संदेश देना चाह रहे हैं कि धर्मांतरण कभी नहीं करना चाहिए चाहे उसके लिए कितनी भी बड़ी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। इसका सीधा-सा मतलब यह हुआ कि चाहे कितने भी निम्न स्तर के कार्य अछूत कर रहे हैं और कितनी भी जिल्लत व शोषण-उत्पीडन वे झेल रहे हैं, उन्हें अपने हिन्दू धर्म की खातिर इसका आत्मसात कर लेना चाहिए। दूसरे, डा.अम्बेडकर की तरह बुद्ध धम्म के अंगीकार (धर्मांतरण) का हिस्सा उन्हें नहीं बनाना चाहिए। यही अप्रत्यक्ष संदेश आर.एस.एस. चीफ ईसाई व इस्लाम में धर्मांतरण के संबंध में अछूतों को देना चाहते हैं। यदि इस हिन्दू कट्टरवाद की मुहिम को अम्बेडकरवाद के विरुद्ध देखा जाए तो मुझे लगता है कि अनुचित नहीं होना चाहिए। निस्संदेह आर.एस.एस. चीफ की एक तीर से कई

निशाने साधने की यह अदा काबिल-ए-तारीफ है और डा. विजय सोनकर साहब का इस मुहिम का हिस्सा होना भी आज के इस अवसरवादी युग की बड़ी देन कहा जाना चाहिए।

इसी कार्यक्रम में विश्व हिन्दू परिषद के अशोक सिंघल साहब कहते हैं-''मैंने शकराचार्य के सामने भी इस समस्या को रखा कि अछूत जातियों की सूचियाँ किसने बनाई? किस आधार पर बनाई? इन्हें बनाने का मानदंड क्या रहा? लेकिन आज तक कोई इन प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सका। आखिर एक जाति उ.प्र. में दलित जाति में गिनी जाती है, वहीं जाति पंजाब में स्वर्ण जातियों में शामिल है। ये उपजातियाँ घटने के बजाय बढ़ क्यों रही हैं?'' विश्व हिन्दू परिषद भी उसी नाव पर सवार है जिस पर आर.एस.एस.। इनके नाम अलग-अलग हैं लेकिन काम दोनों का हिन्दू धर्म का उद्धार करना ही है और ये अपने तरीके से जमकर कर रहे हैं। इन्हें भी अच्छी तरह मालूम हैं कि जातियां कैसे बनी। जहां तक शंकराचार्य के जवाब का सवाल है, वो इसका जवाब कभी नहीं देंगे। इसका जवाब देना ऐसा है जैसे पैर पर कुल्हाडी मारना नहीं, बल्कि कुल्हाड़ी पर पैर मारना। जब हिन्दू धर्म में अछूतों यानी गुलामों की बिन मांगे ही एक लम्बी फौज मिली हो तो शंकराचार्य महोदय इस सुविधा से क्यों महरुम होना चाहेंगे। लेकिन जब ये दलित साई भक्तों की तरह अपना अलग से घर बनाने की बात करेंगे तब देखना एक शंकराचार्य ही क्यों असली और नकली शंकराचार्यों की इतनी बड़ी जमात सामने आ खड़ी होगी कि गिनती छोटी पड़ जाएगी। फिर रातों-रात जातियों के बनने-बिगड़ने के तर्क/कुतर्क की बाड़ सी जा जाएगी और न जाने इनकी धर्म-संसद कैसे-कैसे अध्यादेश जारी कर देगी। खैर...

यदि वी.एच.पी. चीफ को इन अछूतों और जातियों के अस्तित्व में आने की इतनी ही चिंता है तो उन्हें याद दिलाया जा सकता है कि झज्जर जिले के दुलिना गांव में सन २००२ में संभवतः पांच दलितों की बेरह हत्या की गई थी। उस समय वी.एच.पी. के गिरिराज किशोर ने एक बयान दिया था- ''क्या कोई भीड़ को कुछ करने से रोक सकता है। गाय की जान आदमी से कीमती है।'' वजह साफ है कि वी.एच.पी. की चिंता अछूतों को हिन्दू सिद्ध करने तक सीमित है। जातियां कैसे बनी और शोषण कैसे हुआ और इसके लिए जिम्मेदार कौन है, ऐसी चिंता भाषणों की विषय वस्तु है और उन्होंने अपनी यह चिंता जता दी। बस हो गई उनकी जिम्मेदारी पूरी। हां, सिंघल साहब को 'जातियां कैसे बनी' जैसे सवाल के लिए शंकराचार्य महोदय के पास जाने की अपेक्षा डा.विजय सोनकर की मदद लेनी चाहिए थी क्योंकि उन्होंने तो हिन्दू खटीक जाति, हिन्दू चर्मकार जाति और हिन्दू वाल्मीकि जाति के इतिहास पर शोधपरक पुस्तकें लिखी है। यह तो वही बात हुई कि बगल में छोरा और गली में ढिंढोरा। वैसे अभी देर नही हुई है, वी.एच.पी. चीफ ऐसी जानकारी सोनकर साहब से कभी भी ले सकते हैं और अछूतोद्वार का आन्दोलन कभी भी चला सकते हैं।

कार्यक्रम के अंत में सरसंघचालक कहते हैं- ''हम आरक्षण का समर्थन करते हैं। जब तक समाज में असमानता रहेगी, आरक्षण जरुरी है। समाज में उच्च स्थान पाना दलित जातियों का हक है और उच्च जातियाँ ऐसा करती हैं तो कोई अहसान नहीं करेंगी। उन्होंने कहा कि दलितों ने एक हजार साल तक कष्ट सहा है। उनकी स्थिति ठीक करने के लिये हमें सौ साल तक मुश्किल झेलने के लिये तैयार रहना चाहिये।'' यह स्टैटमैंट स्टेज गूंजा नहीं कि टी.वी. व समाचार पत्रों की सुर्खिया बन गया कि आर.एस.एस. चीफ ने आरक्षण को जायज ठहराया है, इसका समर्थन किया। सभी दलित और गैर-दलित हल्के में यह चर्चा का विषय बना। अच्छा है चर्चा होनी चाहिए। मैं भी इस पर चर्चा करना जरुरी समझ रहा हूं। इसलिए यहां चर्चा कर रहा हूं।

बड़ी विनम्रता से कहना चाहता हूं कि आर.एस.एस. चीफ के इस स्टैटमैंट में भी मुझे निजद्वैतवाद नजर आ रहा है यानी कहीं पे निगाहें, कहीं पे निशाना जैसा कुछ है। आर.एस.एस. चीफ जब यह कहते हैं ''हम आरक्षण का समर्थन करते है। जब तक समाज में असमानता रहेगी, आरक्षण जरुरी है। समाज में उच्च स्थान पाना दलित जातियों का हक है और उच्च जातियाँ ऐसा करती हैं तो कोई अहसान नहीं करेंगी।'' निस्संदेह काबिल-ए-तारिफ बात है। लेकिन इस स्टैटमैंट का अगला हिस्सा -'दलितो ंने एक हजार साल तक कष्ट सहा है।उनकी स्थिति ठीक करने के लिये हमें सौ साल तक मुश्किल झेलने के लिये तैयार रहना चाहिये।' चीफ के स्टैटमैट का यह उत्तरार्ध इस स्टेटमैंट के पूर्वार्ध को भी संदिग्ध बना देता है। बाद वाले इस स्टैटमैंट में आर.एस.एस. चीफ द्वारा अछूतों के ३५०० वर्षों से भी अधिक के शोषण-उत्पीड़न को घटाकर १००० तक सीमित करना तर्कयुक्त नहीं है। वे १००० वर्ष के शोषण-उत्पीड़न की पूर्ति १०० वर्ष के आरक्षण से करना चाहते हैं।

आर.एस.एस. चीफ का आरक्षण देने का यह पैमाना तर्कयुक्त नहीं है। थोड़ी देर के लिए मान लो कि सारा माल आर.एस.एस. चीफ की तराजू पर तौला जाना है तो मापतौल का बाँट तो पूरा होना चाहिए। यानी ३५०० साल के शोषण-उत्पीडन के बदले ३५० वर्ष। इसमें डंडी मारना तर्कसंगत नहीं है। इस संदर्भ में दूसरी बात यह नजर आती है कि आर.एस.एस. चीफ कह तो रहे हैं आरक्षण देने की मगर इसके पीछे की मंशा है आरक्षण खत्म करने की। स्पष्ट है कि आरक्षण पूना पैक्ट के माध्यम से सन १९३५ में अलग व सुरक्षित निर्वाचन सीट के रुप में शुरु हुआ था। कहने की जरुरत नहीं कि इस आरक्षण का शैक्षिक व रोजगार के आरक्षण से कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन सुरक्षित निर्वाचन सीट के आरक्षण को लगातार शैक्षिक व रोजगार के आरक्षण के साथ घालमेल करने के कोशिश निरंतर रहती है।

आर.एस.एस. चीफ भी यही घालमेल कर रहे हैं। आर.एस.एस. चीफ के हिडन एजेंडे के अनुसार यदि हम आरक्षण की समय सीमा तय करें तो यह सिर्फ २० वर्ष ही बचती है। क्योंकि १९३५ से शुरु १०० वर्ष २०३५ में पूरे होते हैं। चूंकि अब २०१४ समाप्ति पर है यानी आर.एस.एस.चीफ हमारे लिए आरक्षण सिर्फ २० वर्ष तक देने की बात कर रहे हैं। वैसे न तो आर.एस.एस.चीफ यह तय करने की कोई अॅथॉर्टी हैं और न ही हम, इसलिए इस विषय पर हमारे लिए किसी मोल-भाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन यहां मामला नीयत का है, इरादे का भी। मुझे दोनों ही संदिग्ध नजर आते है। लेकिन यह तय है कि ऐसे स्टेटमैंट जनमानस तैयार करने में मदद करते हैं। इसलिए ऐसे मामलों में चर्चा भी गंभीर व ईमानदारीपूर्ण होनी चाहिए। उसमें कोई हिडन एजेंडा नहीं होना चाहिए। तभी ऐसे किसी भी गंभीर मामले में सम्मानजनक विकल्प की तलाश हो सकती है वरना षडयंत्रों के अलावा कुछ शेष बचता ही नहीं। इस पूरे घटनाक्रम में मुझे गंभीरता व ईमानदारी का अभाव लगता है, जो भारत के किसी भी जिम्मेदार नागरिक के लिए गंभीर चिंता की बात होनी चाहिए। निष्कर्ष रुप में यदि यह कहा जाए कि डा.अम्बेडकर की वैचारिकी यानी अम्बेडकरवाद का संबंध केवल साहित्य तक सीमित नहीं बल्कि समाज, राष्ट्र व पूरी मानवता के साथ इसका घनिष्ठ अंतः संबंध है, तो कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा।

अति प्राचीन है किराये की कोख की प्रथा

–के.एस.तूफ़ान

संतान सुख से वंचित दम्पत्तियों के लिए सरोगेसी (किराये की कोख) का प्रचलन एवं लाभ आशा की किरण बनकर आया है। विज्ञान ने आजकल अनेक अविष्कार कर मानव के जीवन को हर्षित किया है। अब ऐसे दम्पत्ति भी सन्तान सुख प्राप्त कर सकते है, जो सन्तानोंप्तत्ति में सक्षम नहीं है। सन्तान सुख से वंचित दम्पत्तियों के लिए सरोगेसी वरदान सिद्ध हो रही है। किन्तु इस विषय में अनेक प्रकार की कठिनाईयाँ तथा कानूनी अडचने आ रही हैं। वास्तविकता ये है कि भारत में सरोगेसी एक व्यवसाय का रुप धारण कर गई है। विशेषतः विदेशही दम्पत्तियों को भारतवासियों से किराये की कोख लेना सस्ता एवं सरल महसूस हो रहा हैं यही कारण है कि भारत में सरोगेसी का कार्य व्यापक पैमाने पर किया जा रहा है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या किराये की कोख उपलब्ध कराने वाली भारतीय महिलाओं को इस सम्बन्ध में पूर्ण एवं कानूनी जानकारी होती है? दरअसल उस महिला के खान–पान, स्वास्थ्य एवं मानसिक स्वस्थता का ध्यान रखा जाना अति आवश्यकता है। इस विषय में सरकार को नजर रखनी चाहिए कि किराये की कोख की आड़ में विदेशियों द्वारा भारतीय महिलाओं का शोषण अथवा दोहन न किया जाए।

भारत में किराये की कोख का प्रचलन अति प्राचीन है। इस प्रकार के उदाहरण महाभारत एवं अन्य पौराणिक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, वरन् इस प्रथा के द्वारा उत्पन्न बच्चे मेधावी एवं नामी–गिरामी हुए है। यहां पर 'महाभारत' से माधवी के विषय में उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसे न केवल अश्वों के बदले बार–बार बेचा गया, वरन् किराये की कोख के रुप में उससे पुत्र भी प्राप्त किए गए। महाभारत के उद्योग पर्व (अध्याय ११२–११७) के अन्तर्गत 'गालव चरितम्' उपाख्यान में सम्राट ययाति एवं उनकी पुत्री 'माधवी' की कथा विस्तृत रुप से वर्णित है।

महाभारत में नारी विक्रय एवं पर–पुरुष द्वारा यौन–शोषण किए जाने की 'माधवी' की कथा सबसे ज्वलन्त एवं हृदय द्रावक उदाहरण है। ऋग्वेद भारत की सबसे प्राचीन रचना मानी जाती है। ऋग्वेद में सम्राट ययाति का दो बार उल्लेख हुआ है, और वे ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के स्रष्टा भी थे। अतः निर्विवाद रुप से उन्हें ऋग्वेद कालीन व्यक्ति माना जा सकता है। किन्तु ययाति आख्यान वैदिक साहितय में नहीं मिलता। यह उपलबध होता है रामायण, महाभारत, पुराणों और लौकिक संस्कृत साहित्य में। महाभारत के उद्योग पर्व (अध्याय ११२–११७) में 'गालव चरितम्' उपाख्यान में ययाति की पुत्री 'माधवी' की कथा आती है, किन्तु वैदिक साहित्य में माधवी का भी कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

एक ऋषि अथवा साधू–सन्यासी का क्रोध किस प्रकार किसी नारी विक्रय का कारण बन सकता है, यह माधवी की कथा से प्रमाणित हो जाता है। महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में गालब नामक विद्यार्थी विद्याध्ययन पूर्ण कर अपने घर जाने लगा, तो उसने गुरु से अनुरोध किया कि वे उससे गुरु दक्षिण लें। गुरु ने उसकी निर्धनता देखकर गुरु–दक्षिणा लेने से इंकार कर दिया। किन्तु गलाव के बार–बार आग्रह करने पर विश्वामित्र क्रोधित हो गए और उन्होंने शिष्य की निर्धनता को आग्रह करने पर विश्वामित्र क्रोधित हो गए और उन्होंने शिष्य की निर्धनता को नजर–अंदाज करके उससे चन्द्रमा के सदृश्य कांति वाले, आठ सौ अश्व गुरु–दक्षिणा में मांगे, जो श्याम वर्ण के भी हो। गालव यह मांग पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ था।

उसने अपनी यह समस्या अपने मित्र गरुड के समक्ष रखी। गरुड के परामर्श देने पर गालव उसके साथ सम्राट ययाति के दरबार में घोडे खरीदने के लिए धन प्राप्त करने पहुंच जाते हैं। यज्ञादि करते रहने से सम्राट ययाति का कोष लगभग खाली हो चुका था। वे धन के बदले अपनी युवा पुत्री माधवी को ले जाने का प्रस्ताव करते हैं, ताकि उसका विक्रय करके इच्छित घोड़ों का क्रय किया जा सकें।

गालव ने माधवी को स्वीकार कर लिया तथा उसे लेकर इक्षवाकु-वंशी राजा हर्यश्व के यहां गया और माधवी से चार पुत्र उत्पन्न करने के बाद आठ सौ अश्व देने को कहा। राजाने गालव का निरीक्षराकर, पाँच स्थानों (केश, दन्त, त्वचा, हाथ-पांव की उंगलियां और स्कन्ध) में उन्नत, सात सूक्ष्म, तीन गम्भीर स्थानों में गम्भीर तथा पांच रक्त स्थानों में (करतल, नेत्र-प्रान्त, तालु, जिव्हा तथा अधरोष्ठ में) रक्त वर्ण है। किन्तु मेरे पास इस प्रकार के केवल दो सौ अश्व ही हैं, अतः इसे मेरे पास छोड़ जाएं। मैं उससे दो पुत्र उत्पन्न करुंगा और उसके बदले आप दो सौ घोड़े स्वीकार कर लें। यहां पर प्रश्न यह उठता है कि माधवी की नीजामी पर चढ़ाते समय, क्या उसे भरे दरबार के समक्ष नग्नावस्था में प्रस्तुत किया गया था, जो कि राजा हर्यश्व ने उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों का भी इतना विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन किया है?

एक वर्ष पश्चात् गालव राजा हर्यश्व के पास लौटा तथा माधवी और दो सौ अश्वों को लेकर चल दिया। बीते इस एक वर्ष में हर्यश्व ने माधवी से एक पुत्र (वसुमना) उत्पन्न कर लिया था। तत्पश्चात् माधवी एक वरदान के कारण पुनः कौमार्य को प्राप्त कर गई। गालव ने दूसरी बात उसे काशी के राजा 'दिवोदास' के हाथ एक वर्ष के लिए मानो किराये पर उठा दिया। रोचक बात यह है कि काशी नरेश के पास भी उस प्रकार के दो सौ अश्व ही उपलब्ध थे। निश्चित समय पर, अर्थात एक वर्ष पश्चात् गालव ने माधवी को दिवोदास से लौटा लिया। गत एक वर्ष की कालाविध में राजा दिवोदास ने माधवे से एक प्रतर्दन नामक पुत्र प्राप्त कर लिया था। अब गालव ने माधवी को भोजनगर के राजा उशीनर के यहां प्रस्तुत कर दिया। किन्तु संयोग से यहां भी उस विशेष प्रकार के केवल दो सौ घोड़े ही थे, और इस प्रकार भाग्य की मारी माधवी को एक वर्ष का वापिस कर लिया, किन्तु उसकी समस्या का समाधान नहीं हो सका। वस्तुतः उसके समक्ष समस्या ज्यों-की-त्यों खड़ी थी। क्योंकि उसके पास अब तक केवल छः सौ घोड़े ही एकत्र हो पाए थे। जबकि गुरु दक्षिणा में विश्वामित्र को आठा सौ घोड़े भेंट किए जाने थे।

अब गालव के समक्ष यह प्रश्न मुंहबाये खड़ा था कि वह दो सौ और अश्व मिलने असम्भव हैं, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व में इस प्रकार के मात्र छः सौ ही अश्व हैं। गरुड ने गालव को परामर्श दिया कि वह छः सौ घोड़े के साथ ही माधवी को भी श्विामित्र की सेवा में समर्पित करके क्षमा याचना कर ले। इस प्रकार उन सभी एकत्र छः सौ अश्वों के साथ ही गालव ने माधवी को भी विश्वामित्र की सेवा में समर्पित कर दिया। माधवी का निरीक्षण करने के पश्चात् विशमित्र ने अपने शिष्य (गालव) को इस बात के लिए फटकारा कि वह स्थान-स्थान पर भटकने की अपेक्षा, यदि प्रारम्भ में ही उसके पास माधवी को लेकर आ जाता तो कोई हानि हनीं थी। वह बेकार में ही इधर-उधर भटकता रहा और समय बर्बाद किया। उन्होंने माधवी को सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा एक वर्ष में ही उससे एक पुत्र अष्टक उत्पन्न कर गालव को पुनः लौटा दी। अन्ततः गालव ने माधवी को उसके पिता ययाति को सौंप दिया।

कैसी विचित्र, शोचनीय एवं विडम्बनापूर्ण स्थिति है कि माधवी का पिता ययाति दानवीर कहलाने के लिए, प्रेमी गालव, गुरु-दक्षिणा चुकाकर ऋषि की पदवी धारण करने हेतु, तीनों राजा उधार की कोख से

चक्रवर्ती पुत्र पाने के लिए तथा महर्षि विश्वामित्र अपने शिष्य गालव का दम्भ तोड़ने के लिए माधवी का अपने-अपने ढंग एवं स्तर से इस्तेमाल करते रहे। देखा जाए तो माधवी इन सबके मध्य फुटबाल की भांति इधर उधर लुढ़कने के लिए अभिशप्त है। वस्तुतः कर्तव्य को धर्म मानकर, पुरुष का साधन एवं खिलौना बन जाने वाली माधवी विश्व की दृष्टि में त्यागमयी, महान नारी के स्थान पर कूल्टा बन जाती है। कहा जाता है कि एक वरदान के प्रताप से माधवी बार-बार पुत्र प्रसव के बाद भी कुमारी बन जाती थी। दिल समझाने के लिए यह तर्क अथवा कथा अच्छी है किन्तु इस प्राकर की कथा पर विश्वास करने वाले क्या माधवी की मर्मान्तक पीड़ा को समझ सकते हैं, जिसे वेश्या-सा जीवन जीना पड़ा? बाद में सम्राट ययाति ने माधवी के विवाह हेतु स्वयंवर का आयोजन किया। किन्तु विभिन्न पुरुषों द्वारा उसका यौन शोषण कर तथा संतान उत्पन्न कर उसका जो कौमार्य भंग किया गया था, इससे वह इतनी क्षुब्ध थी कि उसने किसी भी राजकुमार को वरमाला नहीं पहनायी और वनगमन करना उचित समझा।

डॉ. बाबा साहब का अंतिम संदेश

''मेरे लोगों से कह देना, नानक चन्द! मैं उनके लिए जो कुछ भी हासिल कर पाया हूँ, वह मैंने अकेले ही किया है और यह मैंने विध्वंसक दुखों और अन्तहीन परेशानियों से गुजरते हुए, चारों ओर, विशेषकर हिन्दू अखबारों की ओर से मुझ पर की गई गालियों की बौछारों के बीच किया है, मैं सारा जीवन अपने विरोधियों और अपने ही उन मुट्ठी भर लोगों से लड़ता रहा हूँ, जिन्होंने अपने स्वार्थी उद्देश्यों के लिए मुझे धोखा दे दिया। मैं बड़ी कठिनाइयों से कारवाँ को वहाँ तक लेकर आया हूँ, जहाँ यह आज दिखाई देता है। कारवाँ को इसकी राह में आने वाली बाधाओं, अप्रत्याशित विपत्तियों और कठिनाइयों के बावजूद चलते रहना चाहिए। अगर वे एक सम्मानजनक और प्रतिष्ठित जीवन जीना चाहते हैं, तो उन्हें इस अवसर पर अपनी क्षमता दिखानी ही होगी। यदि मेरे लोग, मेरे साथी कारवाँ को आगे ले जाने के योग्य नहीं हैं, तो उन्हें इसे वहीं छोड़ देना चाहिए, जहाँ यह आज दिखाई दे रहा है, लेकिन उन्हें किसी भी रुप में इस कारवाँ को पीछे नहीं हटने देना चहिए। मैं पूरी गम्भीरता में यह सन्देश दे रहा हूँ, जो शायद मेरा अन्तिम सन्देश है और मेरा विश्वास है कि यह व्यर्थ नहीं जाएगा। जाओ जाकर उनसे कह दो; जाओ जाकर उनसे कह दो; जाओ जाकर उनसे कह दो,'' उन्होंने तीन बार कहा।

जाति के बंधन

–जे.एच.हटन

विवाह के संबंध में निषेधों का समाज से संबंधों के बारे में महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु बात इन्हीं निषेधों तक खत्म नहीं होती जिनके कारण एक जाति दूसरे से पृथक् है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी ही जाति में विवाह करना एक प्रकार से प्रासंगिक ही है। इस प्रकार के प्रसंग की आवश्यकता उस निषेध के कारण होनी है जिसमें किसी दूसरी जाति के, खासकर उससे नीचे की जाति के, व्यक्ति के हाथ का पकाया खाना खाने की मनाही है। इस लेखक का मत है कि इस प्रकार का निषेध ही संभवतः इस सारी व्यवस्था का मूल आधार है। भारत के कुछ भागों में एक जाति के व्यक्ति द्वारा दूसरी जाति की स्त्री को रखेली के रुप में रखना कोई असाधारण बात नहीं है। वह किसी गैर-हिंदू स्त्री से भी इस प्रकार का संबंध रख सकता है, किन्तु इसकी वजह से उसकी जाति वाले उसे अपनी जाति से बाहर नहीं निकाल देते। किन्तु जाति से बाहर इस आधार पर किया जा सकता है कि उस व्यक्ति ने उस स्त्री के हाथ का पकाया खाना खाया है। कम से कम उसके हाथ का पानी पिया है। इस प्रकार की जाति के बाहर निकालने की घटनाएं अक्सर होती भी है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विवाह के बारे में निषेध वस्तुतः खान-पान के बारे में निषेध का फल है न कि उसका कारण। मध्य अफ्रीका में चरवाहों और कृषकों के बीच किस प्रकार खान-पान के निषेध के कारण विवाह का निषेध है, इस ओर रोसके ने ध्यान दिलाया है।

> यह आलेख जे.एच.हटन की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'कास्ट इन इंडिया' से लिया गया है। इसका प्रकाशन सर्व प्रथम १९४५ में हुआ था। जे.एच.हटन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में सामाजिक नेतृत्व विज्ञान के मानद प्रोफेसर थे और भारत में जनगणना कमिश्नर थे। ज्ञानार्थियों और शोधकर्ताओं के लिये उपयोगी होगा।
>
> –संपादक

किसी जाति के व्यक्ति के द्वारा दूसरी जाति के व्यक्ति के हाथ के पकाये खाना खाने पर निषेध के भी कई वर्ग और भेद है। प्रायः यह कहा जाता है कि किसी स्वच्छ जाति की कसौटी इस बात में है कि उसके हाथ का पानी ब्राह्मण पी सकता है या नहीं। इस प्रश्न पर विवाह संबंधी निषेधों की भांति स्थान भेद से अनेक भेद मिलेंगे। कभी-कभी तो ये भेद बड़े विचित्र लगते हैं। जैसे, उत्तर भारत में अनेक शूद्र जातियां ऐसी हैं जिनके हाथ का पानी ऊंची जातियों वाले पीते हैं जब कि दक्षिण और पश्चिम भारत में इन जातियों के लिए सिर्फ अपनी या अपने से ऊपर की जाति के व्यक्ति का पानी पीने का नियम है। तथापि किसी अस्पृश्य के हाथ का भी गंगाजल ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि मान्यता यह है कि गंगाजल इतना पवित्र है कि उसमें कोई छूत नहीं ल सकती। यह कहावत भी है कि जल तो वायु से पवित्र हो जाता है। इसमें किसी बड़े घड़े से दूसरे व्यक्ति के पीने के बर्तन में पानी गिराने के चलन की ओर संकेत है। यद्यपि सिद्धांततया ऐसे बर्तन में पानी पिया जा सकता है जो किसी ऊंची जाति का हो। किन्तु व्यवहार में कोई किसी दूसरी जाति के बर्तन में पानी नहीं पीता। यदि ऐसे बर्तन से उससे किसी नीची जाति का व्यक्ति पानी पी ले तो वह बर्तन त्याज्य हो जाता है। उत्तर भारत में ब्राह्मण अनेक शूद्र जातियों से जिन्हें स्वच्छ समझा जाता है, अपने लोटे में पानी लेकर पी सकता है। जैसे वह बढ़ई का पानी पी सकता है। ये बढ़ई अपनी उत्पत्ति विश्वकर्मा से बतलाते है।

वह नाई, भड़ीूजा, हलवाई, ? कहार के हाथ का भी पानी पी सकता है। हिन्दुओं के ब्याह आदि संस्कारों में तो नाई का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान भी है। किन्तु दक्षिणी ब्राह्मण इस सम्बन्ध में विशेष सतर्क होते है। चाहे जो हो, रेलों में पानी पांडे हमेशा ब्राह्मण रहे हैं ताकि उनके हाथ का पानी पीने में किसी को एतराज न हो। स्थान भेद से भेद का उदाहरण गोआले है। बिहार में ब्राह्मण उनके हाथ का पानी पी सकते हैं किन्तु बंगाल में, कम से कम कुछ स्थानों में ब्राह्मण उनका पानी नहीं पीते। ब्राह्मण से नीचे जातियों में पानी पीने के बारे में उतनी कट्टरता नहीं है। कम से कम उत्तरी और उत्तर-पूर्वी भारत में तो ऐसी ही बात है। किन्तु जहां तक किसी जाति को स्वच्छ मानने का प्रश्न है, ये भी उन्हीं जातियों को स्वच्छ मानते हैं जिन्हें ब्राह्मण मानते हैं।

पानी पीने के बारे में निषेधों से भोजन संबंधी निषेध अधिक कड़े हैं किन्तु इन निषेधों का आधार कौन भोजन देता है न होकर कौन भोजन पकाता है, होता है। मुख्य बात यह है कि पकाने वाला कौन है। जिस बर्तन में खाना पक रहा हो उस पर किसी अनधिकृत व्यक्ति की परछाही या उसकी दृष्टि पड़ जाने पर भी समूचे बर्तन का खाद्य पदार्थ त्याज्य हो जाता है और उसे फेंक दिया जाता है। विभिन्न गोत्रों के व्यक्ति एक दूसरे का पकाया खाना ख सकते हैं। वे आपस में विवाह भी कर सकते हैं क्योंकि उनकी स्त्रियों का पकाया खाना घर में खाया जा सकता है। ब्लट का कथन है कि साथ भोजन का यह रुप अंतर्विवाह का फल है। क्योंकि जब तक ऐसे समूहों में विवाह संबंध नहीं हो जाता वे एक दूसरे का पकाया खाना नहीं खाते। किन्तु इसमें कार्य कारण संबंधी उलटी दिशा में अधिक संभव प्रतीत होता है क्योंकि विवाह संबंध उन्हीं से हो सकता है जिनका भोजन खाने का निषेध न हो। घर में नौकर कहार जब उसका विवाह न हुआ हो वह ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ आदि का जूठा भोजन खा सकता है। किन्तु विवाह के बाद वह ऐसा नहीं करता। कुछ जातियों में तो विवाहित पुत्री के हाथ का खाना नहीं खते, यद्यपि उस पुत्री का विवाह अपनी जाति में ही करते हैं। सामान्य भोजन भी बड़ी सावधानी और संस्कार के साथ पकाया जाता है। चावल को पानी में उबालते हैं। चपाती बनाने के लिए आटा गूंधकर लोइयां बनाते है और फिर उन्हें बढ़ा कर तवे पर सेंकते हैं। अधिकांश जातियों का मुख्य भोजन यही है और ब्लंट के शब्दों में ''इसके जादू की तरह बड़ी सावधानी'' से पकाते हैं। यदि भोजन रसोईघर से दूर पकाना हुआ तो हर व्यक्ति अपना चौका निशान बनाकर अलग करेगा। मिट्टी का अपना अलग चूल्हा बनायेगा, अपने साथियों से अलग भोजन पकायेगा। वह अपनी जाति या उपजाति के लोगों के लिये खाना बना सकते है। किन्तु चौके के बारे में कई जातियां इतनी सतर्क रहती है कि इस संबंध में अनेक व्यंगात्मक मुहावरे बन गये हैं जैसे 'तेरह राजपूत, तेरह चौका'। ओ'मैले ने एक कहावत बतलाई है, ''तीन तिरहुतिया तेरज चूल्हा''। ए.के.फर्बिस ने तो प्राच्य ब्राह्मणों के बारे में लिखा है कि वे अपने भाई के चूल्हे का भी खाना नहीं खाते। यहां तक कि उसके चूल्हे की आग भी इस्तेमाल नहीं करते। उसने ब्राह्मणों के भोजन के विस्तृत ब्यौरे दिये हैं। उसने यह भी लिखा है कि नागर ब्राह्मण कितने परहेज करते हैं। इनमें खाना बनाने से पहले स्नान आवश्यक है। फिर शुद्ध कपड़े पहनना, यदि कपड़े सूती हैं तो देखना यह होगा कि वे ऐसी जगह पखारे और सुखाये गये हों जहां कोई छूत न हो। वह मिट्टी का कोई ऐसा घड़ा नहीं छू सकता जिसमें पानी हो। वह कोई ऐसा सूती कपड़ा घी में डुबाकर पवित्र कर दिया गया हो, तो वह स्पृश्य हो जाता है। वह चमड़ा, हड्डी या कागज भी नहीं छू सकता यदि उस पर किसी हिंदू देवी देवता का चित्र न हो। वह किसी गधे, सुअर, कुत्ता, बिना अन्नप्राशन के शिशु, क्योंकि ऐसा

बच्चा जाति के नियमों से बाहर होता है, को नहीं छू सकता। इनका किसी प्रकार से स्पर्श वर्जित है। भोजन से पूर्व वह किसी ऐसे ब्राह्मण का स्पर्श नहीं कर सकता जो भोजन कर रहा हो या कर चुका हो। भोजन के समय वह कोई मुद्रित पुस्तक नहीं पढ़ सकता। वह किसी ऐसे हस्तलिखित ग्रन्थ को भी नहीं पढ़ सकता जो जिल्द में न बंधी हो और जिसकी जिल्दबंदी इमली की लेई स न हुई हो। इसमें संदेह नहीं कि यह एक प्रकार की अति ही है किन्तु भोजन पकाने और खाने पर कितने और कैसे निषेध हो सकते हैं उसका यह टिपिकल उदाहरण है क्योंकि पानी में पकाया हुआ अन्न खाना एक संस्कार ही है। माहली जाति में जब किसी व्यक्ति को शामिल किया जाता है तो उसे इस संस्कार मे आये अपने सभी जाति भाइयों का जूठा अन्न खाना पड़ता है। मर्दों का खाना खत्म हो जाने पर स्त्रियां अलग से खाती है। बार्बोसा ने लिखा है कि मलाबार का राजा अकेले में खाता है ताकि कोई उसे खाते हुए न देख ले। निकोली कोटि ने बतलाया है कि इस प्रकार खाने की वजह यह है कि किसी की नजर न लगे। इसमें शक नहीं कि इस प्रकार के निषेध विदेशी यात्रियों के लिए बड़े असुविधाजनक होते है। इसलिए दूसरे प्रकार के भोजन के संबंध में ये निषेध नहीं है।

पानी में पकाये भोजन को कच्चा खाना मानते हैं। कच्चा भोजन ग्रहण करने पर पक्के भोजन की अपेक्षा अधिक बंदिशें हैं। घी में पके खाने को पक्का भोजन कहते हैं। मान्यता है कि घी गाय की देन है इसलिए वह पवित्र है। इसलिए उसमें भोजन को पवित्र कर देने की उतनी ही क्षमता है जितनी गंगाजल में होती है। इसलिए उसमें एक जाति का छूत दूसरी जाति में पहुंचने से रोकने की क्षमता है। इसलिए ब्राह्मण भी हलवाई की बनाई मिठाई खरीद कर खाते हैं और इसके लिए उन्हें पहले नहाये या उसे पवित्र करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार भुने हुए अन्न को भी घी में पके अन्न की भांति 'पक्का' मानते हैं। **शतपथ ब्राह्मण** के एक अंश की ओर फ्रेजर ने ध्यान दिलाया है। जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण पानी में पके चावल के पिंड को मनुष्य के मांस के समान मानते थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अनाज का पानी से योग होने के कारण ही कच्चे भोजन को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया हैं संभवतः यह विश्वास रहा है कि अन्न के पौधों में मनुष्यों की भांति प्राण (soul stuff) (तेल पेरनेवालों की अपेक्षा तेल बेचने वाले तेलियों को हेय दृष्टि से देखने की भी वजह यही विश्वास प्रतीत होता है) और कि जल स प्राण का संबंध है। जो भी हो कच्चे और पक्के भोजन में भेद बहुत महत्त्वपूर्ण है। कच्चे भोजन में छूत हो सकती हैं पर पक्का भोजन में नहीं। इसलिए कोई ब्राह्मण हलवाई, कहार या भड़भूजा का पक्के भोजन ग्रहण कर सकता है। घी, बिना पका अन्न, शाक, भाजी तो मुसलमान से भी खरीद सकते हैं। किन्तु पकाने पर सभी भोजन ब्रह्म हो जाता है। इसलिए उसे बड़ी सावधानी से ग्रहण करना होता है।

एक बड़े महत्त्व की ध्यान देने योग्य बात यह है कि भोजन के बारे में निषेध का किसी जाति की सामाजिक हैसियत से संबंध नहीं है। ब्लंट ने नीचे लिखे पांच वर्गों में जातियों को विभाजित किया हैः

(१) वे जो सिर्फ उन्हीं के हाथ का पकाया कच्चा भोजन ग्रहण करते हैं जिनसे उनका विवाह संबंध हो या जो उनके गुरु हो। ये उनके हाथ का या हलवाई का कहार का पक्का खाना ग्रहण करते है। इसके साथ ही भड़भूजे का भुना पक्का अन्न भी ये लेते हैं।

(२) वे जो ऐसा ही भोजन इसी प्रकार पकाया हुआ इनके हाथ का या ब्राह्मण के हाथ का ग्रहण करते हैं।

(३) वे जो ऐसा ही भोजन उपर्युक्त सभी के हाथ का और राजपूतों के हाथ का ग्रहण करते हैं।

(४) वे जो ऐसा ही भोजन उपर्युक्त सभी के हाथ का और अपने बराबर की जाति का बनाया ग्रहण करते हैं।

(५) वे जो किसी के भी हाथ का पकाया खाना खाते हैं।

इन पांचों वर्गों में उसने उत्तर प्रदेश की ७६ जातियों का विवरण दिया है किन्तु ये सभी समान वर्ग में नहीं आती क्योंकि कुछ कच्चे भोजन के लिए तो वर्ग (१) में आती है किन्तु पक्के भोजन के संबंध में वे उतनी कड़ाई नहीं बरततीं, किसी दूसरे वर्ग में आती है। कुछ ऐसी भी जातियां हैं जो पक्के भोजन के बारे में भी उतनी ही कट्टर हैं जितनी कच्चे भोजन के बारे में। कभी-कभी तो वे दूसरी जातियों की अपेक्षा इस संबंध में और भी कट्टरता दिखलाती हैं। इस प्रकार जैसा कि हम अनुमान कर सकते हैं, वर्ग (१) में कुछ ब्राह्मण जातियां आती हैं, अन्य ब्राह्मण कच्चे भोजन के संबंध में तो वर्ग (१) में आते हैं किन्तु पक्के खाने के बारे में वर्ग (४) में पड़ते है। काछी, कुम्हार और कुछ किसान जातियां जैसे किसान और कोइरी सभी दृष्टियों से वर्ग (१) में आते हैं जबकि कलवार कच्चे भोजन के संबंध में तो वर्ग (१) में है किन्तु पक्के भोजन की दृष्टि से वर्ग (३) में। इसी प्रकार 'स्वयं' हलवाई कच्चे भोजन की दृष्टि से वर्ग (१) में और पक्के भोजन के लिए वर्ग (४) में, कायस्थ दोनों दृष्टियों से वर्ग (२) में हैं। कहार कच्चे भोजन के लिए वर्ग (४) में और पक्के भोजन के लिए वर्ग (३) में, आगड़िया कच्चे भोजन की दृष्टि से वर्ग (३) में और पक्के भोजन के लिए वर्ग (१) में आते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हर जाति का अपना विधान है। जहां तक विवाह का प्रश्न है, इस संबंध में हर जाति में निषेध स्नान के अनुरुप भिन्न-भिन्न हैं। इस संबंध में कोई आम नियम नहीं है। न तो उसकी सामाजिक हैसियत और निषेधों के पाल में कड़ाई के बीच कोई तुलना की जा सकती है उदाहरण के लिए, बंगाल का कुर्मी अपने गुरु के अलावा और किसी ब्राह्मण का पकाया भोजन नहीं ग्रहण कर सकता। उसकी पत्नी तो पति के बुरु के हाथ का पकाया भोजन भी नहीं खाती। कुर्मी संताल का पानी ग्रहण करता है और उसका हुक्का तो पीता है, किन्तु उसका पकाया भोजन नहीं खाता। संताल कुर्मी का पकाया जरुर खा लेते हैं। जहां तक दक्षिण भारत का संबंध है किसी ने बतलाया है कि वहां कि स्त्रियाँ अपनी बहू के हाथ का पकाया खाना तो खाती हैं, उस बहू की मां भी वह खाना खा लेगी किन्तु समधिनें एक दूसरे के हाथ का पकाया खाना नहीं खाती।

खान-पान के अतिरिक्त हुक्का पीने पर भी ऐसी ही प्रतिबन्ध हैं यदि पंचायती हुक्का हुआ तो वह एक हाथ से दूसरे हाथ में इस प्रकार एक मुंह से दूसरे मुंह में चलता है। यह रिवाज वैसा ही है जैसे एक ही थाली से भोजन करना या एक ही लोटे या गिलास से पानी पीना। भारत के गावों में धूम्रपान का अर्थ हुक्का पीना ही होता है। कभी-कभी हुक्का पीने में थोड़ा फर्क जरुर होता है। जैसे, आमतौर पर एक नली (निगाली) में मुंह लगाकर हुक्का पीते हैं, पर कभी-कभी हाथ या हाथों के पंजे को इस प्रकार गोला बनाकर पीते हैं कि उसके बीच से धुंवा खींचा जा सके। इसमें अंगूठे वाला हिस्सा हुक्का पीने वाले के मुंह की ओर रहता है और जबकि सिर्फ हाथ नली या हुक्के के संपर्क में आता हैं आमतौर पर हुक्का पीने का वही स्थान है जो पानी पीने या कच्चा खाने का। यदि किसी को जाति से बाहर करना होता है तो उसके लिए आमतौर पर **उसका हुक्का पानी बंद करना** कहते हैं। इस प्रकार वह व्यक्ति अपने जाति भाइयों में शमिल नहीं माना जाता।

भोजन का विषय समाप्त करने से पूर्व यह उल्लेख भी आवश्यक है, खाने या पीने के बर्तन किस चीज के हों, इस संबंध में भी कुछ निषेध है। उदाहरण के लिए सभी ऊंची जाति के लोगों के लिए मिट्टी के

बर्तनों का इस्तेमाल निषिद्ध है। इसके लिए कारण यह बतलाया जाता है कि मिट्टी के बर्तनों की पूरी सफाई नहीं हो सकती। इसी तरह कुछ जानवरों के मांस खाने का भी निषेध है। सिर्फ चमार या कुछ भंगी जातियां जैसे डोम ही ऐसी हैं जो गो-मांस न खाती हों। डोम तो बाघ का भी मांस खाते हैं। बंदरों का माँस तो कुछ आदिम जातियों के अलावा और कोई नहीं खाता। किन्तु इन जातियों में अधिकांश के लिए बाघ का मांस वर्जित है। कुछ जातियां, कम से कम सिद्धान्त के रुप में, मांस नहीं खाती। किन्तु यह भी उनके संप्रदायों पर निर्भर है। वैष्णव मांस नहीं खाते किन्तु शाक्त और शैव खाते है। जिन जातियों में मांस-भक्षण चलता है, उनमें भी जो सबसे प्रतिष्ठित जातियां है वे पालतू सुअर का मांस नहीं खाते। भेड़ बकरे का मांस और मछली तथा शिकार किये पक्षी या जानवर का मांस खाने का खूब रिवाज है। दूसरी बहुत सी जातियों की तरह ऊंचे राजपूत जंगली सुअर का मांस खाते हैं। जहां तक मछली का प्रश्न है, इस संबंध में रिवाज काफी अलग अलग हैं। इनका संबंध समाजिक मर्यादा से अधिक स्थान विशेष से हैं जैसे बंगाल की सबसे प्रतिष्ठित जातियों के लोग भी मछली खाते हैं जबकि राजस्थान के सूखे मरुदेश में मछली खाने का विचार भी विरक्ति पैदा करता है। असम में राजस्थान के बनिया अपनी लारी में मछली लादने से इनकार कर देते है। एक मारवाड़ी बनिया ने कहा कि मछली लादना तो सांप से भी बदतर है। कुछ जातियां मछलियों के सेहरों के अनुसार भोजन खाती हैं जैसे कुछ ऐसी मछलियां खाते हैं जिनके सेहरे हों और कुछ ऐसी जिनके सेहरे न हों। कुछ जैसे केवट मुर्गे और सुअर का मांस तो नहीं खाते पर कछुओं के अंडे खाते है। कभी-कभी तो कुछ वनस्पतियों के खाने का भी निषेध होता है जैसे अगरवाल लोग शलजम तो खाते है पर ब्लंट के अनुसार इनमें से कुछ हल्दी नहीं खाते। इन्हें हलदिया कहते है। हल्दी शायद इनका टोटेम होगा।

खाने-पीने के जरिये जब छूत लग सकती है तो शरीर के स्पर्श मात्र से भी छूत लग सकती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। मासिक धर्म की अवधि में और पुत्र-जन्म के बाद कुछ समय स्त्री के स्पर्श से भी छूत लगती है। शव को अग्नि देने वाले स्पर्श से अशौच होता हैं जब तक कि मृतक का श्राद्ध न हो जाय तो पूरे परिवार के किसी भी व्यक्ति को स्पर्श हो जाने पर कुछ हिन्दू स्नान करते हैं और अपने कपड़े आदि धोते है। उसके बाद ही भोजन करते हैं। इसी प्रकार कतिपय नीची जातियों को भी अस्पृश्य मानते हैं। इसमें इस बात का भी ध्यान नहीं रखते कि वह अपने पैत्रिक पेशे का पालन करता है या नहीं। इन जातियों को आमतौर पर हरिजन या अस्पृश्य कहते हैं। चमार जो चमडे का काम करते हैं, धोबी जो गंदे कपड़े खासकर मासिक धर्म वाले कपड़े भी साफ करता है और डोम जो मैला साफ करते हैं और कुछ दूसरी जातियों के लोग जो गोमांस या घरेलू सुअर का मांस खाते हैं अस्पृश्य माने जाते है। यदि कोई ब्राह्मण इनका स्पर्श कर ले तो उसे छूत लग जाती है। आमतौर पर जो ब्राह्मण से कम ऊंचे दर्जे के हैं उन्हें छूत कम लगती है। किन्तु इस संबंध में सिद्धांत एक ही है और कतिपय जातियों या उपजातियों का स्पर्श हो जाने पर स्नानशुद्धि आवश्यक है। यदि किसी परैयन का चेरुमन या पुलयन से स्पर्श हो जाय तो उसे छूत लग जाती है और उसे अपना सिर साफ करना होगा और भगवान का ध्यान करना होगा। बर्बोसा के अनुसार यदि किसी नायर स्त्री को कोई पुलयन स्पर्श कर ले तो पूरे जीवन के लिए उसकी जाति चली जाती है। उसका छूत सारे परिवार को न लग जाय इस डर से वह अपना घर छोड़ देने की सोचती है।

अब भारत में सार्वजनिक गाड़ियों में यात्रा का प्रचार बढ़ रहा है, इसलिए इस प्रकार की छूत लगना आम बात हो गई है। हर बार छूत लगने पर बराबर

स्नान कर शुद्धि नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि कतिपय छोटी जातियों वाले ही इस प्रकार की छूत अधिक मानते हैं। यदि मलावार के किसी कुरिच्यन के घर में कोई ब्राह्मण आ जाये तो वह पूरे घर को गोबर से लोप कर शुद्ध करता है। यह एक प्रकार की अति ही है। किन्तु ब्लंट ने तालिका बनाई है जिसमें यह दिखलाया है कौन सी जाति किन-किन जातियों को अस्पृश्य मानती हैं यह सूची करीब-करीब वैसी ही हो जो कच्चा और पक्का खाना खाने के निषेध की हैं दक्षिण भारत में अस्पृश्यता का यह सिद्धान्त और आगे चला गया है। वहां दूरी की छूत भी मानते है। यदि कोई व्यक्ति किसी हेय पेशे में हो या वह किसी ऐसी जाति का हो जिसका पारंपारिक पेशा हेय रहा हो तो, उसके स्पर्श से छूत लगती है। महाब्राह्मण यद्यपि ब्राह्मण होता है किन्तु वह उस सम्मान की अधिकारी नहीं होता जो अन्य ब्राह्मण पाते हैं। अपितु उसके स्पर्श से भी वैसी ही छूत लगती है जैसी मुर्दे को छूने वाले डोम से क्योंकि वह मृतक के श्राद्ध कराता है। किन्तु जहां उत्तर भारत में हल जोतने वाले राजपूत के साथ भोजन करना हल न जोतने वाला राजपूत अपने सम्मान के अनुकूल नहीं मानता किन्तु उसे हल जोतनेवाले राजपूत के स्पर्श से छूत नहीं लगती। किन्तु दक्षिण भारत में तो कतिपय जातियों के पास आने से भी छूत लगती है। ऐसी जातियों को हिन्दू मंदिरों से कुछ दूरी के भीतर नहीं आने दिया जाता। यह प्रथा इतनी व्यापक थी कि दूरी की इकाई के रुप तमें **तीयपद, चेरुमपद** आदि का प्रचलन हो गया। **तोयपद** या **चेरुमपद** से तात्पर्य उस दूरी से था जिसके भीतर **तीयन** या **चेरुमन** किसी ऊंची जाति के व्यक्ति के पास नहीं आ सकते हैं या आ सकते थे। किन्तु ये दूरियों के मान समान नहीं होते थे क्योंकि नायर के लिए छूत की जो दूरी होती थी वह ब्राह्मण के लिए दूसरी से कम थी। इनके संबंध में विभिन्न ग्रंथों में भी विभिन्न मानदंड मिलते हैं जौनेथन डंकन ने अपनी पुस्तक 'रिमसर्क्स आन कोस्ट ऑफ मलाबार' में लिखा है कि नायर किसी नंबूद्री ब्राह्मण के पास आ तो सकता है किन्तु उसे छू नहीं सकता। तीयन (पासी) को एक ब्राह्मण से कम से कम ३६ कदम, मलायन (पापान, ओझा ओर टोकरी बनाने वाला) उससे भी तीन या चार कदम ज्यादा और पुलयन (कृषक, अस्पृश्य) को ९६ कदम दूर चलना चाहिए। तीयन को नायर से १२ कदम, मलायन को उससे तीन कदम अधिक दूर रहना चाहिए। पाणन तीयन के पास आ तो सकता है, पर उसका स्पर्श नहीं कर सकता किन्तु पुलयन को पाणन के पास भी नहीं आना चाहिए। वह दूर से चिल्लाकर बात कर सकता है। यदि किसी पुलयन से ब्राह्मण का स्पर्श हो जाय तो उसे तत्काल स्नान करना चाहिए और धर्म शास्त्रों का पाठ करना चाहिए और अपना यज्ञोपवीत बदल देना चाहिए। किन्तु यदि किसी नायर का अथवा किसी दूसरी जाति के व्यक्ति का किसी पुलयन से स्पर्श हो जाय तो उसे मात्र स्नान करने की आवश्यकता होती है। वैसे भी नायर तो शूद्र होने के कारण यज्ञोपवीत का अधिकारी नहीं होता। फ्रांसिसे डे ने १८६३ में लिखा था, ईलवन को ब्राह्मण ने ३६ कदम और नायर से १२ कदम दूर रहना चाहिए। जबकि यदि कोई कनियन (ज्योतिषियों की जाति) किसी ब्राह्मण से २४ फुट पर हो और नायर का स्पर्श कर दे तो इन दोनों को छूत लग जाती है। मैटियर ने सन १८६१ में लिखा है कि नियम यह है कि कोई शाणन किसी ब्राह्मण से ३६ कदम और पुलयन ९६ कदम के भीतर नहीं आ सकते। विल्सन का विवरण डंकन से करीब ७० वर्ष बाद का है। विल्सन ने लिखा है कि नायर नंबूद्री ब्राह्मण से ३ फुट, ईलवन या शाणन (=तीयन) या अन्य अस्पृश्य २४ कदम के भीतर नहीं आ सकते। सी.ए. इन्स ने सन् १९०८ में मलाबार गजेटियर में लिखा है कि कारीगर किसी ब्राह्मण से २४ फुट, नायडि (ये करीबङ्करीब खाना बदोश, हरिजन और आदिम जाति के है) ७४ फुट की

दूरी के भीतर नहीं आ सकते। इन रिपोर्टों के बाद पिछले करीब सौ वर्षो में परिवर्तन अवश्य आये हैं। अय्यपन ने १९३७ में छूत की दूरी का मानदंड देते हुए कहा है कि नायर को नंबूद्री से ७ फुट, ईरवन (ईलवन, तीयन) से ३२ फुट, चेरुमान को ६४ फुट, नायडि को ७४ से १२४ फुट, की दूरी पर रहने से ब्राह्मण को छूत की दूरी धटती जाती है। ईलवन को नायर से २५ फुट, चेरुमान को ईलवन से ३२ फुट दूर रहना चाहिए। यदि कोई नायडि बाहर जाता है तो उसे दूसरी जातियों को ही नहीं बचाना है बल्कि उनके मकानों, तालाबों और कुछ नदियों के पास भी नहीं जाना चाहिए जिनमें इन जातियों के लोग स्नान कर रहे हों। यदि कोई नायडि उस जल का स्पर्श करता है जिसमें ऊंची जाति के लोग स्नान कर रहे हों, तो जल अपवित्र हो जाता है और तब तक अपवित्र रहता है जब तक कि वह नायडि दृष्टि से ओझल नहीं हो जाता। विलयूर में एक टिंटल पारा या छूत की चट्टान से सबसे करीब का हिंदू घर ३ फर्लांग दूर है। कोई एनार्डन किसी गांव से ४०० गज और किसी उच्च जाति से १०० गज के घेरे में नहीं जा सकता। यदि किसी व्यक्ति को नायडि की छूत लग जाय तो उसे सात नदियों और सात तालाबों में नहाना पड़ता है और अपनी कानी अंगुली का खून गिराना पड़ता है। उल्लदन और परैयन एक दूसरे से छूत मानते हैं। इन्नीज ने लिखा है कि नायडि पोन्नानि नदी पर बने पुल से नहीं जा सकते थे क्योंकि इससे पुल अपवित्र हो जाता या कम से कम उनके पैरों के निशान की छूत दूसरी जातियों को लग सकती थी। इसलिए वे कई मील का चक्कर लगाकर नदी पार करते थे। मंगलूर जिले के कोरग अपने गले में एक थूकदानी लटका कर चलते थे क्योंकि यदि वे सड़क पर थूक दें और किसी राहगीर का पैर उस पर पड़ जाय तो उसे छूत लग जाएगी। मैटियर ने एक कहावत बतलाई है, वेडन की सड़क को छूत तब तक रहती है जब तक वह उस पर चलता है, किन्तु पुलयन यदि एक बार सड़क से गुजर जाय तो सड़क अपवित्र हो जाती है। वस्तुतः जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, दर्शन मात्र से छूत लग सकती थी। अय्यपन ने बतलाया है कि कुछ लोगों का विश्वास है कि कतिपय दिनों में जब कि लोगों को विशेष रुप से शुद्ध रहना होता है, नीची जातियों के लोगों को देखना भी नहीं चाहिए। 'हिन्दू' के एक संवाददाता ने समाचार भेजा था (२४ दिसम्बर १९२४) कि तिन्नेवेली जिले में एक जाति ऐसी भी है जिनको देशना भी वर्जित है- वह है पुरद वण्णान। यह जाति कपड़े धोती है। इसलिए इनसे दुहरी छूत लगती है। इन्हें मध्य रात्रि से सवेरे तक अपना काम पूरा कर लेना पड़ता है। ये दिन में अपने घरों से नहीं निकल सकते क्योंकि इनके दर्शन मात्र से छूत लगती है। दूरी वाली छूत तो अभी तक अनुष्ठानों या पर्वों आदि के अवसर पर मानी जाती है। हां, प्रतिदिन के जीवन में अब ऐसा नहीं होता।

यदि अप्रत्यक्ष संपर्क या मात्र दर्शन से भी छूत लग सकती है तो जाहिर है कि एक ही कुएं से सवर्ण हिन्दुओं और अवर्णों के पानी लेने से गड़बड़ी पैदा हो सकती हैं तथापि, ए.के. फार्विस ने ऐसे कई कुओं का उल्लेख किया है जिनसे दोनों वर्गों के लोग पानी ले सकते थे। ब्राह्मण कुएं के एक ओर से पानी लेते थे और हरिजन उन ब्राह्मणों के चले जाने पर दूसरी ओर से। यदि किसी कुएं में कोई कुत्ते आदि का शव मिल जाय तो वह अपवित्र माना जाता है। उसे शुद्ध करने के लिए पाँच बार उसका पानी निकालते थे और तब उसमें गंगा जल या गोमूत्र डालकर पवित्र करते थे। जहाँ जल खूब हो जैसे बंगाल या असम में वहां दोनों वर्गों के लिए अलग-अलग कुओं की व्यवस्था आसान ह। यदि कभी कोई कठिनाई आती भी है तो कोई सवर्ण हिंदू कुएं से पानी लेकर हरिजनों के बर्तनों में डाल देता है और इस प्रकार वह कठिनाई का हल ढूंढ लेते है। किन्तु भारत के जिन भागों में पानी की कमी हे, वहां यह समस्या बिगड़ जाती है। वैसे स्थानों में

हरिजनों को पानी मुश्किल से मिलता है। जिन स्थानों में हरिजनों ने सार्वजनिक कुओं के इस्तेमाल के अपने अधिकारों का इस्तेमाल किया है वहां ऊंची जातियों के लोगों ने उन कुओं का इस्तेमाल प्रायः बंद कर दिया है। यही स्थिति स्कूलों, श्मशानों आदि की भी है। भोजनालयों, नाइयों की दुकानों आदि के मालिकों ने हरिजनों की सेवा करने से मना कर दिया है।

मंदिरों में वे दूरियाँ निश्तिचि हैं (या थीं) जहाँ तक विभिन्न जातियों के लोग जा सकते थे। छूत कितनी दूरी तक छूत ला सकता है, वह विभिन्न जातियों के लिए अलग अलग है। मलाबार के गुरुवयूर मंदिर में उसकी पर्देवाली दीवार (Screen wall) से ३२५ फुट के घेर में ईलवन या तीयन का प्रवेश निषिद्ध है। इस दीवार की प्रत्येक बाहु ३५० फुट लंबी हैं और मंदिर उस घेरे के मध्य में है। अस्पृश्य वेकम में मंदिर के घेरने वाली सार्वजनिक सड़क पर नहीं चल सकते थे। यही बात शचींद्रम के मंदिर और त्रावणकोर में भी लागू है। शचींद्रम् के मंदिर को छूत से बचाने के लिए जगह-जगह रास्ता बदलना पड़ा और सड़क फिर से नाई गई। इसी प्रकार कचहरी में नीची जातियों के प्रवेश निषिद्ध थे। उन्हें ४० से १०० कदम दूर रहना पड़ता था। मंदिर के पास की एक कचहरी में पुलयनों की २०० कदम के घेरे में आने की मनाही थी। इससे उनके बयान लिखने में बड़ी कठिनाई होती थी। मैटियर ने यह भी लिखा है कि कोई युरोपियन मंदिर और तालाब के बीच के मार्ग से गुजरा। इसलिए मंदिर को शुद्ध करने के लिए देवता का पुनः अभिषेक कराया गया। नागरकोइल के मंदिर में १८७३ ई. में एक ऐसे ब्राह्मण के बच्चे दर्शन के लिए चले गये थे जिसने अपनी कन्या का उसके पति की मृत्यु हो जाने पर पुनः विवाह कर दिया था। वह कन्या बाल विधवा थी। बच्चों के मंदिर में प्रवेश के बाद उसे शुद्ध किया गया। आमतौर पर मुसलमानों और ईसाइयों को मलाबार में ब्राह्मणों और नायरों से नीचा मानते है। किन्तु वे नीची जातियों से कम अस्पृश्य माने जाते हैं। थर्स्टन ने लिखा है कि एक बार कोई औढ़ स्त्री अपना भोजन पका रही थी उसकी कलछी किसी तरह थर्स्टन से छू गई। उसने फिर उसी कलछी से खाना बनाया। इसके लिए उसे जाति से बाहर कर दिया गया। इसके विपरीत केरल के सीरियन क्रिश्चियन यदि नायरों से ऊंचे नहीं तो उनके बराबर अवश्य माने जाते है। थर्स्टन ने लिखा है कि त्रावणकोर में यदि कोई दरबारी राजा के पास जाकर सांस ले ले तो इससे राजा को छूत लग जाती है। इसलिए हरिजन मंदिरों में मुंह और नाक पर पट्टी बांध कर चलते हैं ताकि प्रतिमा अपवित्र न हो जाय। किसी कुडुभि स्त्री को अपने मासिक धर्म की अवधि में अपने को सभी लोगों से कम से कम ७ फुट की दूरी पर रखना और अपने मुंह और नाक को हाथों से ढकना पड़ता है। और इस बात की भी परवाह करनी पड़ती है कि कहीं उसकी छाया किसी पर न पड़ जाय। कुम्हार जब कुनबों के लिए कोई प्रतिमा बनाता है तो उसे अपने मुंह पर पट्टी बाँधनी पड़ती है। यदि किसी चिता के धुएं का एक झोका भी ब्राह्मण पर आ जाय तो उसे छूत लग जाती है।

अप्रत्यक्ष छूत के प्रश्न पर हमने किंचित विस्तार से विचार किया है क्योंकि इससे स्पष्ट हो जाता है कि जाति व्यवस्था और निषेधों में किना घनिष्ट संबंध है। इसी प्रकार के कई दूसरे निषेध भी हैं जिनका जाति व्यवस्था से कमोबेश घनिष्ट संबंध है। मासिक धर्म से स्त्री अस्पृश्य हो जाती है किन्तु अस्पृश्यता की मात्रा एक जाति से दूसरी जाति में घटती बढ़ती है। हमने इस संबंध में त्रावणकोर की कुडुभि स्त्रियों का उल्लेख किया है। उसे इस बात का ध्यान रखना होता है कि वह अपनी सांस और छाया से भी छूत बचायें। जनम से भी कम दूत नहीं लगती। किन्तु जन्म होने पर दक्षिण भारत के ब्राह्मणों में १० दिनों का अशौच लगता है तो क्षत्रियों का अवलंबवासियों में ११ या १२ दिनों का, नायरों में १५ दिनो का, कुरिच्यनों में

२८ दिनों का, दक्षिण के चेरिमानों में २८ दिनों का किन्तु मलबार के उत्तर के चेरुमानों में ४२ दिनों और काडरों में चार महीनों का अशौच है। इसके विपरीत अशौच की अवधि किसी जाति की सामाजिक हैसियत का भी निश्चित प्रमाण नहीं है क्योंकि नायडि और पणियनों में सिर्फ १० दिनों की अवधि तक अशौच मानते हैं। कुछ आदिम जातियों में प्रसव किसी पृथक् झोपड़ी में होता है या उकसे लिए घर का ही कोई हिस्सा अलग कर देते है जैसा कि बेड्डुवनों में होता है। या उसके लिए घर का ही कोई हिस्सा अकेली जच्चा को उसी में अलग कर वहां थोड़ा पानी रख देते हैं। जच्चा उसमें तब तक अकेली रहती है जब तक शिशु की आवाज नहीं सुनाई देती। जन्म का छूत परिवार के सभी लोगों को लगता है जिसकी अवधि जाति की सामाजिक हैसियत जितनी नीचे होगी, उतनी ही अधिक होगी। मलाबार में तो अशौच का घेरा और बड़ा होता है। वहां सारे तरवाढ अर्थात् संयुक्त परिवार की उन सभी शाखाओं में अशौच मानते हैं जो किसी एक ही माता की पुत्री परंपरा में सदस्य हों और अशौच जन्म और मृत्यु दोनों अवस्थाओं में मानते हैं। मृत्यु के कारण अशौच की अवधि आमतौर पर वर्ण के आधार पर घटती बढ़ती है। ब्राह्मणों में दस दिनों का अशौच होता है, क्षत्रियों में १२ दिनों का, वैश्यों में १५ दिनों का और शूद्रों में पूरे एक महिने का। यह आम नियम सभी जातियों पर लागू नहीं है। और दक्षिण भारत में तो कम से कम ब्राह्मणों को छोड़कर काफी भिन्नताएं है। इस प्रकार नायरों के विभिन्न वर्गों में अशौच की अवधि अलग-अलग है, जबकि तीयन, मुक्कुवन ओर चेरुमान चौदह या पन्द्रह दिनों का अशौच मानते हैं। चेरुमान जाति के कुछ लोग तो अशौच को किसी दूसरे सुविधाजनक समय के लिए टाल भी देते है। इसके लिए गोबर का एक गोला बनाकर किसी बर्तन में बंद कर देते हैं। इस प्रकार अशौच तब तक के लिए बंद रहता जब तक कि वह बर्तन खोला नहीं जाता। फिर अशौच की अवधि १४ दिनों के स्थान पर ४० दिनों की हो जाती ह। मृतक के श्राद्ध के कुछ संस्कारों का समय भी विभिन्न जातियों में अलग अलग है। ब्राह्मण उसे ''तब पूरा करते है जबकि मृत्यु की निश्चित सूचना प्राप्त हो।'' किन्तु कुछ दूसरी जातियों में, उदाहरणार्थ प्रभु (पश्चिम भारत के कायस्थ) उसके लिए २५ वर्ष और दूसरे जैसे सोनार २० वर्ष और अन्य १२ वर्ष तक परीक्षा करते है। अशौच की अवधि में, कम से कम मलाबार में हर जाति के लिए किसी दूसरी जाति वाला **माड्डु** (परिवर्तन) का कार्य करता है। यदि किसी नायर स्त्री को बच्चा हुआ हो तो मन्नान जाति (ये हरिजनों के कपड़े धोते हैं, नायरों के नहीं) की कोई स्त्री साफ कपड़ों का **माट्टु** लाती है जिसे वह आंगन में रख देती है वहां उसके लिए अनाज और एक दीप रखा रहता है। कोई स्त्री जो नायरों के यहां नाई या दाई का काम करती है (उत्तर मलाबार में वह मारयन जाति की होती है, इस जाति वाले नायरों के दाह संस्कार में कुछ कार्य करते हैं, और दक्षिण में वह वेलक्कत्तलवन जाति की होती है) उस साफ कपड़े को भीतर ले जाती है और मन्नान स्त्री वे कपड़े उतार लेती है जो जच्चा ने पहने रखे हों। सातवें और पंद्रहवें दिन धोबिन के साथ उसकी ही जाति का केाई पुरुष भी होता है जो नाइन के द्वारा साफ कपड़े भीतर ले जाने से पूर्व कुछ अनुष्ठान पूरे करता है। यह आवश्यक है कि हर जाति में किसी दूसरी जाति के व्यक्ति **माड्डु** संपन्न करें। यह **माड्डु** शुद्धि स्नान के लिए पहना जाता है जो अशौच की समाप्ति का सूचक है। यह अशौच चाहे मासिक धर्म का हो या बच्चे के जन्म का या परिवार में किसी व्यक्ति की मृत्यु का इससे पूरे परिवार के लोगों को अशौच लगता है।

हमने पहले अध्याय में विवाह के नियमों में भिन्नता की ओर ध्यान दिलाया है। यद्यपि किसी जाति में विवाह की उम्र क्या हो, विधवा-विवाह हो या न हो, खासकर बड़े भाई की विधवा से विवाह किया जाय

या नहीं, ममेरी-फुफेरी या मौसेरी बहन से विवाह हो सकता है कि नहीं, इन सबके बारे में अकेले कोई व्यक्ति फैसला नहीं कर सकता, बल्कि पूरी जाति ऐसे रीति-रिवाजों का नियमन करती है। रीति-रिवाजों के बारे में समूची जाति जो फैसले करती है, उसका पालन सभी जाति भाई करते है। यह संभव है कि स्थान-भेद से इन रीति-रिवाजों में भी भेद हो।

एक अन्य प्रश्न जिसका भारत के कुछ भागों में बड़ा महत्त्व है वह यह है कि किस जाति को कहां तक वस्त्र और आभुषण पहनने और अन्य वस्तुएं सार्वजनिक रुप में धारण करने का अधिकार है। विभिन्न वर्णों के यज्ञोपवीत किस वस्तु के हो इसका भी विधान है। ब्राह्मण का यज्ञोपवीत, आज प्रायः सूती होता है, क्षत्रिय का सन का जिससे धनुष की डोर बनाते हैं और वैश्य का ऊनी होता है। पहले दक्षिण भारत में कमर से ऊपर वस्त्र धारण करने का अधिकार सिर्फद्विज जातियों को ही था। यहां तक कि कुछ समय पहले तक स्वयं शूद्र कहते थे कि हरिजनों को कमर से ऊपर वस्त्र धारण करना वर्जित है। ये ही निषेध सोने और चांदी के आभूषण, छाते या जूते पहनने के ाबरे में भी थे। उत्तर भारत में ऐसी अनेक घटनाएं हुई हैं जबकि चमारों को राजपूतों की तरह वस्त्र पहनने या आभूषण धारण करने पर पीटा गया है। आभूषण धारण करने पर रोक काफी प्राचीन है और व्याापक है। असम में आंओं नागाओं में, जो हिंदू नहीं हैं, कुछ कबीलों के नागा हाथीदांत के भारी आभूषण हाथों में नहीं पहन सकते। जबकि दोनों हाथों में ऐसे आभूषण पहनने का वहां आम रिवाज हैं। इसी प्राकर देश के अन्य सुदूर भाग लक्षद्वीप में जहां अब प्रायः सभी मुसलमान है कुछ इसी प्रकार के निषेध है। इन दोनों इलाकों में इन निषेधों को तोड़ने पर हिंसा की घटनाएं हुई हैं। इसी प्राकर के निषेध नीची जातियों की बारातों में दूल्हों को घोड़े पर ले जाने पर है। इस निषेध के तोड़ने पर प्रायः हिंसा या बायकाट की घटनाएं हुई है। इनके दूल्हे पालकी पर भी नहीं चल सकते। मद्रास में हरिजन दूल्हों को पालकी पर ले जाने के मामलों को लेकर काफी उपद्रव हुए हैं। बंगाल के नामशूद्रों को भी लेकर इसी प्रकार की घटनाएं हुई है। आभूषण और अन्य श्रृंगार की वस्तुओं के धारण के संबंध में सभी जातियों के लिए भिन्न-भिन्न नियम है। दक्षिणबाहु जातियों और बामबाहु जातियों के लिए अलग-अलग नियम हैं इस प्रश्न पर भी उपद्रव हुए हैं दुबाइज ने लिखा है कि एक त्यौहार पर एक चिकिलियन ने अपनी पगड़ी में लाल फूल लगाया जिस पर परैयनों ने एतराज किया। इस घटना को लेकर काफी बावेला हुआ था।

वस्त्राभूषणों के धारण पर प्रतिबंध के अनुरप भाषा पर भी प्रतिबंध है। ऐसे प्रतिबंध मलाबार के कुछ भागों में संभवतः अभी तक चले आ रहे है। पहले तो ऐसे प्रतिबंध और भी कठोर थे। इनमें अंत्यजों को संभ्रांत हिंदू से बाहर मानते थे। वे एक विशेष प्रकार की भाशा का प्रयोग करने के लिए बाध्य थे। जैसे, अपने से ऊंचे व्यक्तियों से बात करते हुए उन्हें (चोगतो नियन ईठुवन या इलूवन) और इनसे भी नीचे लोगों को) अपने अंगों के उल्लेख 'जीर्ण' विशेषण के साथ, जैसे मेरी 'जीर्ण आँख' और 'जीर्ण कान' आदि का प्रयोग करना चाहिए। उन्हें अपने बच्चों को 'बछड़ा-बछड़ी' कहना चाहिए। अपनी 'चांदी' को 'तांबा' और अपने को 'पुआल' कहना चाहिए। उन्हें नायरों को 'राजा' कहना चाहिए और ब्राह्मण के पास भी नहीं फटकना चाहिए आदि आदि। पुलयन को 'मै' कहकर बात करने की जुर्रत नहीं करनी चाहिए। उसे 'अद्रियन' 'आपका दास' कहना चाहिए। उसे अपने 'चावल' को 'चीरु' कहने का साहस नहीं करना चाहिए। बल्कि 'करिकडि' 'कदन्न' कहना चाहिए। उसे खाने के लिए नहीं बल्कि पानी पीने के लिए छुट्टी मांगनी चाहिए। उसके मकान को 'मादन' झोपड़ी कहते है। अपने बच्चों को वह 'बंदर' या 'बछड़ा' या 'बछड़ी' कहता है। बोलने से पहले उसे मुंह को हा ि से

ढक लेनाचाहिए ताकि उसकी सांस से दूसरे अपवित्र न हो जाए। इसके विपरीत ब्राह्मण दूसरों के प्रणाम का उत्तर उनके वर्ण के अनुसार अलग-अलग रुपों में देता है।

मैटियर का कथन है कि यदि कोई पुलयन अपने लिए ऊंचे दर्जे का मकान बनवाने की कोशिश करता तो क्षुब्ध शूद्र उसे तुरंत गिरा देते थे। डे ने बतलाया है कि ऊंची जातियों के लिए भी मकान बनाने के बारे में बहुत से निषेध हैं। ऊंची जातियों के मकान में भी काफी सवधानी बरतना आवश्यक है क्योंकि लकड़ी के किसी टुकड़े, कपड़े, या पर्दे से भी छूत लग सकती है। यदि नारियल की जटा, जिसमें कोई छूत नहीं होती, की चटाई में सूत का एक धागा भी हो तो उससे छूत लग सकती है। नये कपड़े का टुकड़ा किसी ऊंची जाति के व्यक्ति को फेंक कर दिया जा सकता है, जो उसे देखकर वापस फेंक देगा (जैसे कि कपड़े की दुकानों में होता है) किन्तु यदि कपड़ा पुराना हो तो इससे छूत लगती है। फर्श चूने, पत्थर या मिट्टी की होनी चाहिए। क्योंकि इनमें छूत नहीं होती। किन्तु लकड़ी के तख्तों में छूत मानते है। इसलिए ऊंची जातियों के मकानों में अक्सर चूने की काली और सफेद पट्टी वाली फर्श मिलती है।

विभिन्न जातियों के रीति-रिवाजों में भिन्नताओं के विवेचन में माथा-पच्ची करने की आवश्यकता हनीं। खास-खास पेशों के बारे में निषेध अवश्य है। बरुई अपने पान के खेत में बिना स्नान और शुद्धि के नहीं जा सकता, इन खतों में ब्राह्मण तो पैर भी नहीं रखते। कुम्हार के अंबे की दूत, बागदियों की उपजाति लेत मछली पकड़ने के लिए जाल का इस्तेमाल तो करते है पर बांस की बंसी का नहीं, साराक जाति वाले 'काटने' शब्द का इस्तेमाल नहीं करते। इस प्रकार के भेद सभी तरह के अनुष्ठानों में मिलते हैं। ऐसी विभिन्नताओं के बहुत से उदाहरण पहले ही दिए जा चुके हैं। शिष्आचार, कर्मकांड, रीति-रिवाज आदि जैसे उत्तराधिकार के नियम हर जाति के भिन्न-भिन्न है। कम से कम मलाबार में अभी तक उत्तराधिकार मातृ-परंपरा में चलता हैं। इस प्रथा में किसी व्यक्ति की संपत्ति उसकी मृत्यु के बाद उसकी बहन के बच्चों को मिलती है। ऐसी प्रथा भारत की कुछ अन्य जातियों में भी मिलती है। ऐसी पितृ प्रधान जातियों में जिनमें उत्तराधिकार जेठे भाई को मिलता है, उनमें भी नियम भिन्न भिनन हैं। कुछ जातियों में पहली पत्नी के सबसे बड़े पुत्र को उत्तराधिकार प्राप्त होता है, तो कहीं सभी पत्नियों में जो सबसे बड़ा पुत्र हो उसे उत्तराधिकार मिलता है और कहीं उस पुत्र को उत्तराधिकार मिलता है जिसे उसका पिता सबसे पहले देखे। इसी प्रकार जुड़वे बच्चों में कही उस बेटे को बड़ा मानते हैं जिसे पिता पहले देखता है। कुछ पहले जन्मे पुत्र को बड़ा मानते है किन्तु कुछ बाद में जन्मे पुत्र को।

एक ओर निषेध का उल्लेख आवश्यक है। यह सभी हिंदुओं पर लागू है या था। ऊंची जातियों पर तो यह और कड़ाई से लागू था। इसका संबंध समुद्र-यात्रा से है। हिन्दुओं में समुद्र पार जाना वर्जित था। इस निषेध के कारण के बारे में हम अनुमान ही कर कसते है। संभवतः इसकी वजह यह थी कि समुद्र पार कर अनजानी जगह में जाने से जाति संबंधी नियमों का पालन करना इतना कठिन होगा कि निश्चय ही कोई उनका पालन नहीं कर सकता। इसलिए समुद्र यात्रा पर ही प्रतिबंध लगा दिया गया था। यदि कोई इस निषेध के बावजूद भी जाता तो उसे वापस आने पर शुद्धि के लिए पंचगव्य पीना पड़ता था। पंचगव्य में गाय केपांच उत्पाद अर्थात् दूध, घी, दही, मूत्र और गोबर होते हैं। इन सबको मिलाने से **पंचगव्य** बनता हैं गोमूत्र को सभी बाहरी छूत का शमन करने वाला मानते है। दुबोइज ने इसका इस्तेमाल होते देखा था। अब तो कट्टर हिन्दू भी बाहर जाने लगे है और **पंचगव्य** भी प्रतीक रुप में ही लेना पड़ता है।

व्यवसाय के संबंध में प्रतिबंधों का जिक्र किया

जा चुका है। इनका संबंध जाति प्रथा से नहीं बल्कि हिंदू धर्म से हैं कुछ पेशों को गन्दा मानते हैं, जैसे मैला साफ करना या चमड़ा उतारना, इन पेशों में लगे लोग अस्पृश्य समझे जाते है। यदि कोई अपनी जाति से अलग ये पेशे अपनाता है तो उसे जाति से बाहर कर देते हैं ताकि समूची जाति को ही उसका छूत न लग जाय। अक्सर एक ही जाति की विभिन्न उपजातियों के पेशों में भी अन्तर मिलता हैं जैसे बंगाल के तेलियों के दो धड़े हैं, एक तेल का व्यापार करता है और दूसरा तेल निकालने का काम करता है। संभवतः ये दोनों एक ही जाति के है जिनका काम शुरु में तिल से तेल निकालना और बेचना था। **मनुस्मृति** में तेल पेरने के पेशे को हीन माना गया है क्योंकि इसमें तिल के जीवन की हत्या निहित है। इससे इस जाति के दो भाग हो गय। एक वर्ग के लोगों का पेशा तेल बेचना है और दूसरे का तेल निकालना। तेल निकालने वाले को अस्पृश्य मानते हैं। यदि पहले वर्ग का कोई तेली दूसरा पेशा अपना ले तो उसे जाति से बाहर कर देते है। इसी प्रकार कांगड़ा के वे राजपूत जो स्वयं हल नहीं जोतते अपने उन जाति भाइयों को छोटा समझते है जो स्वयं हल जोतते हैं। ब्लंट ने लिखा है कि पटवारी लोग कानूनी झांसा देने के लिए बदनाम हैं। इसलिए आम तौर पर कायस्थ उनके परिवारों के साथ विवाह और खान-पान संबंध नहीं रखना चाहते। इस प्रकार पटवारियों की करीब-करीब एक अलग उप-जाति ही बन गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जाति व्यवसाय के बारे में अपने सदस्यों पर प्रतिबंध लगा सकती है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति के पारंपारिक पेशे के अलावा कोई दूसरा पेशा अपना लेता है तो यह कोई अपराध नहीं माना जाता। ब्राह्मण का पारम्पारिक पेशा अध्यापन और शास्त्रों की व्याख्या है किन्तु बहुत से ब्राह्मण रसोइये का पेशा अपनाने पर किसी ब्राह्मण को जाति से बाहर नहीं किया जाता है।

कभी-कभी जब कोई जाति अपने सदस्यों पर व्यवसाय संबंधी कोई प्रतिबंध लगाती है, तो उसका कारण आर्थिक होता हैः ओ'मैले ने एक कसेरे के मामले का उल्लेख किया है जिसका हुक्का-पानी उसके जाति वालों ने बंद कर दिया था। इस कसेरे ने उस दिन भी अपना काम जारी रखा था। जिसे उसकी बिरादरी ने छुट्टी घोषित किया था। उस दिन काम करके वह अपनी बिरादरी वालों को बुत्ता दे रहा था। मध्य प्रदेश के सोनारों ने अपनी बिरादरी के भोज के लिए एक दिन निश्चित किया हैं इस दिन वे इस बात की शपथ लेते है कि सोनारों द्वारा सोने की खोट की मात्रा वे किसी को नहीं बतलायेंगे। यदि कोई सोनार इस रहस्य का उद्घाटन करता है तो बिरादरी उसका हुक्का-पानी बंद कर देती है। अधिकांश व्यवसायिक जातियों के अपने ग्राहक होते हैं जिनका काम वे करते है। इसके लिए उन्हें एक निश्चित रकम मिलती है। यदि कोई व्यक्ति अपनी बिरादरी के किसी दूसरे व्यक्ति के ग्राहक फोड़ता है तो इसका निपटारा बिरादरी की पंचायत करती है। जहां तक व्यवसाय में वास्तविक परिवर्तन का संबंध है, ब्लंट ने वर्तमान स्थिति का समाहार करते हुए लिखा है कि व्यवसाय में परिवर्तन से अब जाति नहीं बदलती बशर्ते कि इससे व्यक्ति की हैसियत में परिवर्तन न हो। यदि हैसियत में परिवर्तन होता है तो उसके तीन रुप होते है एक अलग जाति बन जाना, या इस नये वर्ग का किसी वर्तमान जाति से संबंध जुड़ जाना या फिर अपनी जाति के ही अंदर एक उप-जाति के रुप में रहना और आपस में विवाह करना। इसमें नई उप-जाति बनने के उदाहरण सबसे अधिक है। इस प्रकार उसने कहारों में सिंघाड़ियों की सिंघाड़े की खेती करने वाले गुआल नटों-गाने बजाने वाले खानाबदाशों-जिन्होंने व्यापार का पेशा अपना लिया है और अब अपने को बादि बंजारा कहते है और कहारों में धीमरों (मछुओं), महरों (स्त्रियों के नौकर) और कमकरों (पानी लाने वाले), के उदाहरण दिये है। ब्लंट ने लिखा है कि अब कम से कम

व्यवसाय की दिशा में प्रगति कमजोर हो गई है और अब धीरे-धीरे जाति के शुद्ध व्यावसायिक पक्ष का संबंध है हमें ब्लंट के निर्णय को मान लेना चहिए, किन्तु जाति कभी सिर्फ व्यवसायों तक सीमित नहीं रही। जहां तक यह व्यवसाय मूलक थी यह बहुत पहले से मजदूर संघों की भूमिका निभाती आ रही हैं ब्लंट की पुस्तक में जाति व्यवसाय वाले अध्याय से भी यह बात स्पष्ट हो जाती हैं

बिल्सन ने बड़े विस्तार से बतला दिया है कि किस हद तक जातियों के नियम उसके हर व्यक्ति पर लागू होते है उसने लिखा है- जाति किसी मनुष्य के पैदा होने पर उसकी मान्यता, स्वीकृति, उत्सर्ग और धार्मिक संस्कारों की दिशा का निर्देश कर देती हैं वह उसकी शैशवावस्था, विद्यार्थी और गृहस्थ जीवन में उसके दुग्धपान, आचमन, जल-ग्रहण, भोजन और मलमूत्र त्याग, धोना, सफाई, प्रक्षालन, स्नान, आलेपन और वस्त्राभूषण ग्रहण, उठने-बैठने, झुकने, चलने, मिलने-जुलने, यात्रा करने, बोलने, पठन-पाठन, श्रवण और ध्यान, गायन, कार्य-संपादन, खेल-कूद और लड़ने के तरीके निश्चित करती है। इसके धार्मिक और सामाजिक अधिकारों, विशेषाधिकारों व्यवसायों, अध्ययन अध्यापन, कर्तव्यों और आचार-विचार, दैवी मान्यता, संस्कारों, त्रुटियों, पापों और अतिक्रमणों, परस्पर व्यवहार निषेधें और बहिष्कार, अशौच, शुद्धि जुर्माने, कैद, अंग-भंग, देश निकाला और मृत्यु दण्ड के अपने विधि विधान है। यह हमें बतलाती है कि क्या करने से उसकी दृष्टि से पाप लगता है, पाप बढ़ता है, पाप दूर होता है और क्या करने से पुण्य होता है। पुण्य घटता और बढ़ता है। जाति उत्तराधिकार, संपत्ति के हस्तांतरण, कब्जा और सौदे, लाभ, हानि आदि सबके बारे में बतलाती हैं यह मृत्यु, दफन, शवदाह, स्मारक-निर्माण, सहायता, मृत्यु के बाद अनिष्ट आदि के बारे में भी बतलाती है। संक्षेप में यह मनुष्य के सभी संभव संबंधों ओर जीवन की सभी घटनाओं और जीवन से पूर्व और उसके बाद के सभी मामलों में हस्तक्षेप करती है।

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के स्कूल के अनुभव

''...यदि आप मुझे स्वयं के अनुभव बताने के लिए क्षमा करें, तो मैं आपको बताऊँगा कि मैंने अपनी शिक्षा कैसे प्राप्त की? निर्धन होने के कारण मैं तन पर केवल एक लंगोटी बाँध कर स्कूल जाता था। मुझे स्कूल में पीने को पानी तक नहीं मिलता था। कई-कई दिन मुझे बिना पानी पीए प्यासा ही रहना पड़ता था। मेरी मॉ ने मुझे शिक्षा दी थी कि, मैं अपरिचितों से आदर के साथ बोला करँ। हमारे परिवार में अनुशासन या विनय बहुत था। इसी के अनुसार मैं डाकिये को डाकिया-मामा कहा करता था। हमारे स्कूल में मराठा जाति की एक महिला चपरासी थी। उसके लिए मेरा बस्ता तक अस्पृश्य था। प्यास लगने पर मैं पानी के नल को अपने हाथों से नहीं छू सकता था। अस्पृश्यता बम्बई के एल्फिन्स्टन कॉलेज मे भी चलती थी। इस प्रकार की परिस्थितियों में क्या अपेक्षा की जा सकती है...''

(डॉ. बी.आर.अम्बेडकर संस्करण और स्मृतियाँ ...नानकचंद रत्तु)